॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

स्वातिकी बूँदें

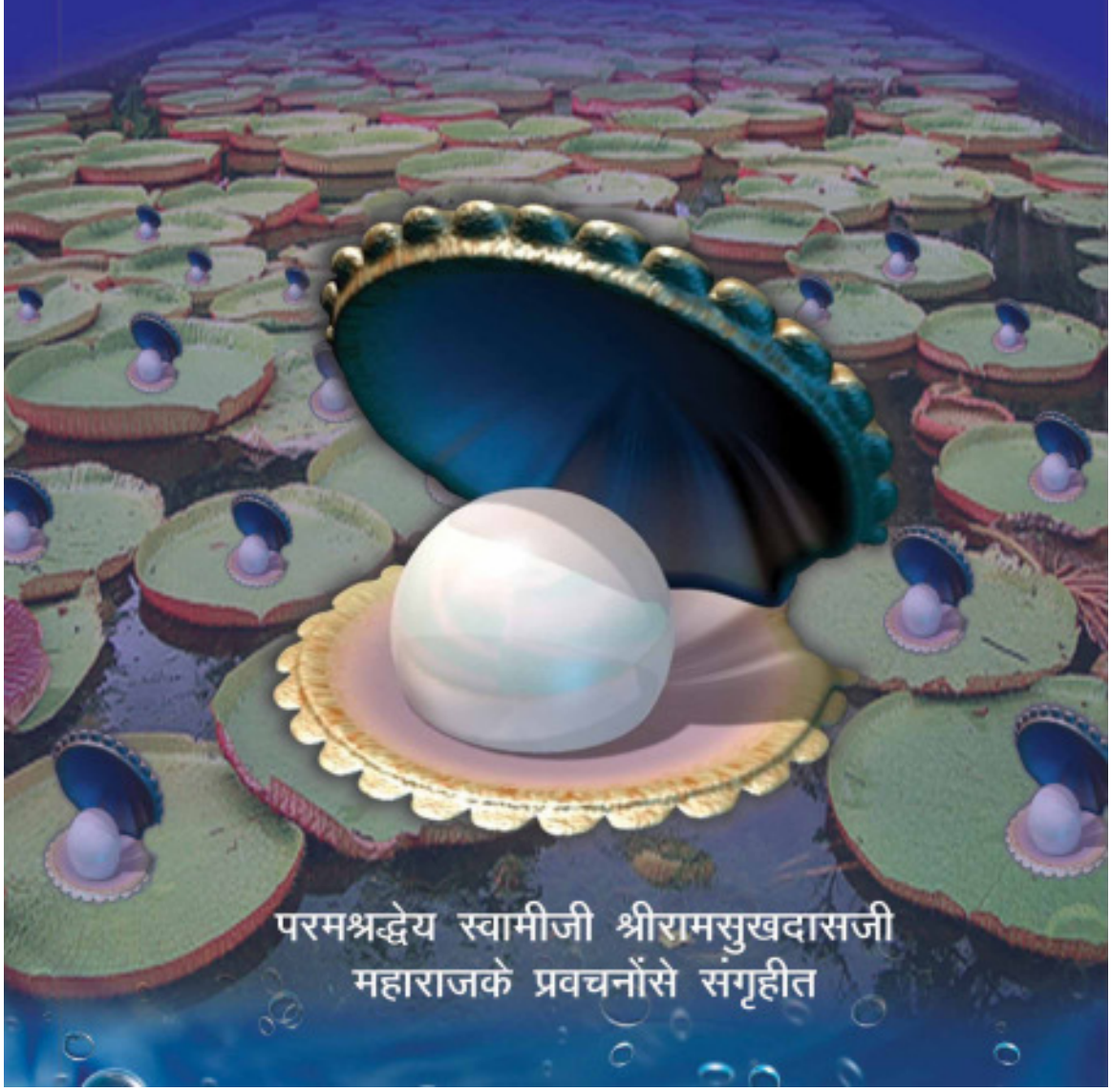

परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी
महाराजके प्रवचनोंसे संगृहीत

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

स्वातिकी बूँदें

[परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके सत्संगमें
जैसा सुना तथा समझा]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'हे प्रभो! आप ही मेरी माता हो, आप ही पिता हो, आप ही बन्धु हो, आप ही सखा हो, आप ही विद्या हो, आप ही धन हो। हे देवदेव! मेरे सब कुछ आप ही हो।'

संकलन तथा सम्पादन—
राजेन्द्र कुमार धवन

गीता प्रकाशन,
कार्यालय—माया बाजार, पश्चिम फाटक,
गोरखपुर—273001 (उ०प्र०)
फोन—09389593845; 07668312429
e-mail: radhagovind10@gmail.com

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्राक्कथन

हमारे ग्रन्थोंमें तथा सन्तवाणीमें सत्संग और नाम-जपकी जितनी महिमा गायी गयी हैं, उतनी अन्य किसी साधनकी नहीं। सत्संगके विषयमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने यहाँतक कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(मानस, सुन्दर० ४)

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

(मानस, उत्तर० ४५।३)

सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥

(मानस, बाल० ३।४)

सत्कर्म, सच्चर्चा, सच्चिन्तन और सत्संग—ये चार उत्तरोत्तर श्रेष्ठ साधन हैं। जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी सन्तका संग (सान्निध्य) ही वास्तवमें 'सत्संग' कहलाता है इसके अतिरिक्त सच्चर्चा होती है, सत्संग नहीं। वर्तमानमें लोग प्रायः सच्चर्चाको ही सत्संग मानकर संतोष कर लेते हैं। इसलिये किसी सन्तने ठीक ही कहा है कि लोग चर्चा तो सत्‌की करते हैं, पर संग असत्‌का करते हैं, फिर कहते हैं कि सत्संगसे कोई लाभ नहीं हुआ। सत्संगसे लाभ न हो—यह असम्भव है।

अनुभवी सन्तकी वाणीमें विशेष शक्ति होती है। अनुभवी सन्तकी वाणी गोली भरी हुई बन्दूकके समान है, जो आवाजके साथ-साथ मार भी करती है। परन्तु केवल सीखी बातें कहनेवाले वक्ताकी वाणी बिना गोलीकी बन्दूकके समान होती है, जो केवल आवाज करके शान्त हो जाती है। उदाहरणार्थ—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजके द्वारा रामायणकी रचना होनेके बाद विविध कवियोंने अनेक प्रकारसे रामायणकी रचना की, परन्तु वे सब एक भभकेके बाद शान्त हो गयीं, जबकि गोस्वामीजीकी रामायण आज भी उत्तरोत्तर विस्तारको प्राप्त हो रही है। सन्त-वाणीमें आया है—

वचन आगले संत का, हरिया हस्ती दंत।
ताख न टूटे भरम का, सैंधे ही बिनु संत॥

कोई योद्धा हाथीके दाँतको हाथोंसे पकड़कर शत्रुके किलेका द्वार खोलना चाहे तो नहीं खोल सकेगा, क्योंकि दाँतोंके पीछे हाथी (शक्ति) चाहिये। ऐसे ही अनुभवी सन्तकी वाणी हाथीके दाँतोंकी तरह शक्तिशाली होती है, जिससे अज्ञानके द्वार टूट जाते हैं। ऐसे ही एक अनुभवी सन्त, जीवन्मुक्त-तत्त्वज्ञ-भगवत्प्रेमी महापुरुष श्रीरामसुखदासजी महाराजके सत्संगसे यथाश्रुत, यथागृहीत मुख्य बातें मैं समय-समयपर अपनी डायरीमें लिखता रहा हूँ। उनका कुछ अंश '**ज्ञानके दीप जले**', '**सत्संगके फूल**' तथा '**सागरके मोती**' नामसे गीताप्रेस, गोरखपुरसे पुस्तकरूपमें प्रकाशित हो चुका है। इन पुस्तकोंसे पाठकोंको बहुत लाभ हुआ है। अब डायरीमें लिखित अन्य बातोंको '**स्वातिकी बूँदें**' नामसे प्रस्तुत पुस्तकके रूपमें प्रकाशित किया जा रहा है। इस कार्यमें पुनरुक्तियाँ होनी स्वाभाविक हैं। परन्तु उन पुनरुक्तियोंको साधकके लिये लाभप्रद मानते हुए हटाया नहीं गया है। शुक्लयजुर्वेद-संहिताके उव्वटभाष्यमें आया है—

'संस्कारोज्ज्वलनार्थं हितं च पथ्यं च पुनः पुनरुपदिश्यमानं न दोषाय भवतीति'

(१।२१)

'संस्कारोंको उद्‌बुद्ध करनेके उद्देश्यसे हित तथा पथ्यकी बातका बार-बार उपदेश करनेमें कोई दोष नहीं है।'

सुनने, समझने और लिखनेमें पूर्ण सावधानी रखते हुए भी भूल हो सकती है। कारण कि वक्ताका जो अनुभव है, वह उसकी बुद्धिमें नहीं आता। जितना बुद्धिमें आता है, उतना मनमें नहीं आता। जितना मनमें आता है, उतना उसकी वाणीमें नहीं आता। जितना वाणीमें आता है, उतना श्रोताके सुननेमें नहीं आता। जितना श्रोताके सुननेमें आता है, उतना उसके मनमें नहीं आता। जितना मनमें आता है, उतना बुद्धिमें नहीं आता। जितना बुद्धिमें आता है, उतना अनुभवमें नहीं आता।

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराज इस समय प्रकटरूपसे हमारे बीच नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें उनकी कल्याणमयी अमर वाणी ही जिज्ञासु साधकोंका पथ-प्रदर्शन करेगी।

सत्संग-प्रेमी पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि वे इस पुस्तकमें आयी बातोंसे लाभ प्राप्त करें और त्रुटियोंको मेरी भूल समझकर क्षमा करनेकी कृपा करें।

गीता-जयन्ती
वि०सं० २०६५

विनीत
राजेन्द्र कुमार धवन

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

स्वातिकी बूँदें

मंगलाचरण

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः॥

'जिन्होंने नमस्कार करनेवालोंके भव-बन्धनको दूर कर दिया है और जो मनुष्यके आकारमें साक्षात् परब्रह्म हैं, उन सौन्दर्यके सारसर्वस्व नन्दनन्दनरूप दिव्य तेजकी मैं वन्दना करता हूँ।'

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

'जो शरणागत भक्तोंको कल्पवृक्षके समान मनोवांछित फल देनेवाले हैं, जिनके एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम और चाबुक है तथा दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है, ऐसे गीतारूपी अमृतको दुहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।'

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकी परमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

'जो वसुदेवजीके पुत्र, दिव्यरूपधारी, कंस एवं चाणूरका नाश करनेवाले और देवकीजीके लिये परम आनन्दस्वरूप हैं, उन जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

'वंशीसे सुशोभित हाथोंवाले, नवीन मेघके समान कान्तिवाले, पीताम्बरधारी, बिम्बफलके समान लाल होंठोंवाले, पूर्णचन्द्रके समान सुन्दर मुखवाले तथा कमलके समान नेत्रोंवाले श्रीकृष्णसे बढ़कर मैं कोई और तत्त्व नहीं जानता।'

हरिः ॐ नमोऽस्तु परमात्मने नमः।
श्रीगोविन्दाय नमो नमः।
श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः।
महात्मभ्यो नमः।
सर्वेभ्यो नमो नमः।

* * * * * * * * *

प्रत्येक कर्मको भगवान्‌की पूजा मानें तो भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। प्रत्येक कर्ममें यह भाव रहे कि हम भगवान्‌का काम कर रहे हैं। साधारण तथा निरर्थक क्रिया भी भगवान्‌के लिये होनेसे वह क्रिया भजन हो जायगी। जो सब काम भगवान्‌के लिये करता है, वह साधक होता है।

* * * * * * * * *

आजकल सिद्धियाँ देखनेमें नहीं आतीं, इसका कारण है—

जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं परस्त्रीभिः कथं सिद्धिर्वरानने॥

(कुलार्णव)

अर्थात् दूसरेका अन्न खानेसे जिसकी जीभ जल चुकी है, दूसरेका दान लेनेसे जिसके हाथ जल चुके हैं और दूसरेकी स्त्रीका चिन्तन करनेसे जिसका मन जल चुका है, उसे सिद्धि कैसे मिल सकती है?

रामायणका नवाह्न पारायण एक अनुष्ठान है। इस समय बहुत संयम रखना चाहिये। अनुष्ठानमें रामायणका पूरा पाठ होना चाहिये, कोई चौपाई छूटे नहीं। पुस्तक अपनी रखनी चाहिये। माला और आसन भी अपना रखना चाहिये। मन-वाणी-इन्द्रियोंका संयम रखनेसे एक शक्ति आती है।

*** *** ***

श्रोता—भूत-प्रेत दूसरोंको दुःख क्यों देते हैं?

स्वामीजी—कारण कि उनमें यह समझनेकी शक्ति नहीं है कि किस व्यक्तिका हित, भला, सुख किसमें है? जैसे, कई मनुष्य कहते हैं कि सत्संग करनेसे क्या लाभ? कारण कि उनमें अक्ल ही नहीं है कि हमारा भला किसमें है?

जो स्वार्थी है, अपना लाभ देखता है, उसके द्वारा कल्याण नहीं होता। **काम-क्रोधरूपी मलसे भरे झाड़ूसे कूड़ा-कचरा साफ किया जाय (समाज-सुधारका काम किया जाय) तो और गन्दगी फैल जायगी।** उससे तो कूड़ा-कचरा अच्छा था।

*** *** ***

किसी भी मनुष्यको अपनी स्थितिमें सन्तोष नहीं होता। किसी भी स्थितिमें जीव सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् सबको अपनी तरफ खींच रहे हैं। भगवान् तो आपको अपनी तरफ खींच रहे हैं, पर संसार निरन्तर आपका त्याग कर रहा है। संसार यह क्रियात्मक उपदेश दे रहा है कि मेरा भरोसा मत रखो, मेरेपर विश्वास मत करो। **भगवान् कहते हैं कि मेरी तरफ आ जाओ, संसार कहता है कि मेरी तरफ मत आओ।**

भोगोंकी इच्छाका त्याग करनेके लिये मुक्तिकी इच्छा जरूरी है, पर मुक्तिके लिये मुक्तिकी इच्छा करना बाधक है।

*** *** ***

वास्तवमें परमात्माकी तरफ चलनेमें सब हमारे सहायक हैं। सृष्टि स्वतः स्वाभाविक जीवका कल्याण कर रही है। संसार यह उपदेश दे रहा है कि तुम मेरी तरफ मत आओ। मनुष्यकी दृष्टि आरम्भपर रहती है, परिणामपर नहीं जाती। इसीलिये उसे यह बात समझमें नहीं आती कि भगवान् हमें अपनी ओर खींच रहे हैं।

हम प्रतिश्वास मौतकी ओर बढ़ रहे हैं। अतः जल्दी भगवान्‌के साधन-भजनमें लग जाओ। **दूसरे काम बाकी रह जायँगे तो उन्हें अन्य लोग पूरा कर देंगे, पर आपका कल्याण कौन करेगा?** जैसे भोजन तो हमें खुदको ही करना पड़ता है, ऐसे ही अपना कल्याण भी खुदको ही करना पड़ेगा। जब पेट भी दूसरेके भोजन करनेसे नहीं भरता, फिर कल्याण दूसरे कैसे करेंगे?

भगवान्‌की तरफ चलनेमें तो सब सहायक होते हैं, पर संसारकी तरफ चलनेमें भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र भी सहायक नहीं होते।

*** *** ***

संसारमें दुःख अधिक होनेका कारण यह है कि कोई इसमें फँसे नहीं।

श्रोता—जो भाग्यमें लिखा है, वह तो मिलेगा ही, फिर उद्योग करनेकी क्या आवश्यकता है?

स्वामीजी—आलसी बननेसे मिलनेवली चीज भी कठिनतासे मिलेगी। पर उद्योग करनेसे सुगमतासे मिलेगी। अगर आप संसारकी उपेक्षा करके परमात्माकी तरफ चलोगे तो वस्तुएँ स्वतः आपके पीछे आयेंगी।

*** *** ***

गीतामें शरणागतिको **'सर्वगुह्यतम'** (सबसे अत्यन्त गोपनीय) कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि इसमें भगवान्‌के परतन्त्र होना पड़ता है, इसलिये वे अपनी शरणागति नहीं देते। जो परतन्त्र होनेसे भय करे, वह भगवान् नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि शरणागतिकी बात (मेरी शरणमें आ जा) कहनेमें शर्म आती है। यह बात हरेकके सामने नहीं कही जा सकती।

शरणागत भक्त अपने-आपको भगवान्‌को सौंप देता है तो भगवान् भी अपने-आपको भक्तको सौंप देते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)। स्त्री सर्वथा पतिके अधीन हो जाती है तो पति पुत्र बनकर उसके अधीन हो जाता है। शरणागतका सब भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं।

*** *** ***

मनुष्यको भगवान्‌ने ऐसा बनाया है कि वह स्वयं अपना कल्याण कर ले। उसे किसीकी सहायताकी जरूरत नहीं। मनुष्यशरीर दिया है तो साथमें साधन-सामग्री भी दी है।

विवेक होनेसे वैराग्य हो ही जाता है। वैराग्य न हो तो समझना चाहिये कि विवेक हुआ नहीं है, केवल सीखा है।

मैं शरीर नहीं हूँ—यह बात ठीक तरहसे मान लें। यदि आप आदर-निरादरसे राजी-नाराज होते हैं तो आपने अपनेको शरीर माना है। हमारा नाम भी बनावटी है। नामके साथ हमारी एकता नहीं है। अतः नामकी निन्दा-स्तुति, बड़ाई, यश और (मृत्युके बाद) कीर्तिका तथा शरीरके आदर-निरादर, मान-अपमानका हमारेपर असर न पड़े—यह सत्संग (सत्‌का संग) है। शरीरकी सेवा कर दो, पर अपना मत मानो। जैसे संसारकी सेवा करते हैं, वैसे शरीरकी सेवा कर दो। शरीरकी सेवा है—संयम रखना। शरीरकी सेवा करनेसे से शरीर स्वस्थ रहेगा। मन-इन्द्रियोंको वशमें रखो, उन्हें कुमार्ग मत होने दो—यह सूक्ष्मशरीरकी सेवा है। शरीरको उतना ही आराम दो, जिससे वह कार्य करने लायक हो जाय। ज्यादा आराम मत दो। जैसे मोटर काममें लेनेके लिये है, चन्दन-पुष्प चढ़ानेके लिये नहीं, ऐसे ही शरीर काममें लेनेके लिये है।

*** *** ***

प्रेमपूर्वक दी हुई वस्तु खानेसे नुकसान नहीं करती। प्रेमपूर्वक बनाया हुआ भोजन तीन-चार दिनतक खराब नहीं होता। ऐसे ही भिक्षाका अन्न भी खराबी नहीं करता। एक बार मैं अस्वस्थ था। खाँसी लगी हुई थी। एक व्यक्तिने प्रेमपूर्वक आग्रह करके दही दिया। दही मेरे लिये कुपथ्य था, पर उसे खानेसे मेरी खाँसी मिट गयी!

*** *** ***

सभामें (दूसरोंके सामने) रोना अथवा नाचना नहीं चाहिये। **भक्तिको दिखाना नहीं चाहिये, प्रत्युत पचाना चाहिये।** पचा न सकें तो एकान्तमें चले जाओ, फिर भले ही नाचो।

*** *** ***

गुरु शिष्यको कुछ देते नहीं हैं, प्रत्युत शिष्यके भीतर जो है, उसे जाग्रत् करते हैं। मैंने शिष्यको दिया है—यह अभिमान गुरुमें नहीं होता, यदि होता है तो वह गुरु कहलाने लायक नहीं है।

मैंने कुछ नहीं दिया—यह गुरुकी दृष्टि है। सब कुछ गुरुने दिया—यह शिष्यकी दृष्टि है। गुरु और शिष्य दोनों ही महान् हैं—यह तीसरे (तटस्थ) व्यक्तिकी दृष्टि है। तीसरा व्यक्ति दोनोंको ही महान् मानता है कि गुरुने बता दिया, शिष्यने मान लिया—***'एक कहे दूजे ने मानी, गोरख कहे दोनों ब्रह्मज्ञानी।'*** इस प्रकार ये तीन दृष्टियाँ हैं।

तुम मेरे (चेले) हो—यह काम डाकू करता है, सन्त अथवा भगवान् नहीं। मेरे चेले बन जाओ—ऐसा कहनेवालेको कालनेमि समझना चाहिये। **असली सन्त चेला नहीं बनाते, गुरु बनाते हैं।**

गुरुकी महिमा बहुत है, पर शिष्यकी दृष्टिसे है, गुरुकी दृष्टिसे नहीं।

सच्ची बातको मान लें—यह सत्संग है। सच्ची बातको केवल सुन लिया, पकड़ा नहीं—यह सच्चर्चा है। शरीर मैं नहीं हूँ—यह मान लो तो सत्संग हो गया।

जो कुछ चाहता है, वह दास (चेलादास, धनदास) होता है। जो पूर्ति करता है, वह गुरु होता है।

पढ़ानेसे जितना ज्ञान होता है, उतना पढ़नेसे नहीं होता।

कल्याण दानसे नहीं होता, त्यागसे होता है।

*** *** ***

माता-पिताके भरोसे विवाह नहीं करना चाहिये। विवाह अपनी ताकतसे करना चाहिये। रामजीने कभी भरतसे सहायता नहीं माँगी। सुग्रीवसे भी सहायता तब ली, जब उसे अपनी शक्तिसे राज्य दिला दिया। अपनी कमाईमें जो सुख है, वह पिताकी कमाईमें नहीं।

*** *** ***

दृश्य और दर्शनके साथ सम्बन्ध होनेसे 'द्रष्टा' (देखनेवाला) कहलाता है। दृश्य और दर्शनके साथ सम्बन्ध न हो तो 'द्रष्टा' संज्ञा नहीं होती। वास्तवमें दृश्य, दर्शन और द्रष्टा—तीनों ही असत् हैं।

संसारके साथ सम्बन्ध केवल संसारको सुख देनेके लिये ही होना चाहिये। जो मिला है, वह सेवाके लिये मिला है, अपने लिये नहीं। संसारमें हम लेनेके लिये नहीं आये हैं, देनेके लिये आये हैं।

*** *** ***

उसीकी वस्तु उसीको देना त्याग है, दान नहीं। बाहरसे देखें तो दरिद्र और त्यागी—दोनोंकी एक अवस्था है। परन्तु बाहरसे एक अवस्था होनेपर भी भीतरसे दरिद्र दुःखी रहता है और त्यागी सुखी। त्यागीके पास जानेसे लोगोंको सुख मिलता है।

कोई कामना न हो तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

*** *** ***

भगवान्‌ने मनुष्यको स्वतन्त्रता दी है। उस स्वतन्त्रताके दुरुपयोगसे यह जन्म-मरण शुरू हुआ है और सदुपयोगसे ही यह मिटेगा। भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको अपना कल्याण करनेकी स्वतन्त्रता दी है। कल्याण जितना सुगम है, उतना सुगम नरक, स्वर्ग, भोग आदि नहीं है। **आपका स्वरूप खुदका है, उसे जानना कठिन है तो फिर सुगम क्या है?**

*** *** ***

दुष्टको दुष्ट मानना दुष्टता है। ***'सब जग ईश्वर रूप है'***, विचार करें, जिसे हम दुष्ट कहते हैं, क्या वह सब समय दुष्ट है? क्या वह सर्वथा दुष्ट है? क्या वह सबके लिये दुष्ट है? जिसमें सर्वथा दुष्टता हो, ऐसा कोई हो ही नहीं सकता। सर्वथा दुष्ट होनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं।

*** *** ***

जो 'जीवभूत' होता है, वही ज्ञानमार्गमें 'ब्रह्मभूत' होता है।

जब जीवमें भोग तथा संग्रहकी प्रधानता हो जाती है, तब कोई भी अनर्थ बाकी नहीं रहता।

अपनी किसी भी स्थितिमें सन्तोष न हो, तभी विचारका उदय होगा। **सन्तोष करनेसे बद्धज्ञानी हो जायगा।** संसारमें सन्तोष करना चाहिये। परमात्मामें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये। **संसारमें सन्तोष करनेसे संसारसे ऊँचा उठ जाओगे। परमात्मामें सन्तोष करनेसे अटक जाओगे।**

*** *** ***

बुद्धिसे विचार किया जाता है। स्वयंसे विचारका उदय होता है। मैं-मेरेपनके त्यागसे तत्त्वकी प्राप्ति होती है। ज्ञान सिखाया नहीं जाता, प्रत्युत स्वयं अनुभव किया जाता है। ज्ञान (तत्त्व)-की प्राप्ति आपको होती है, बुद्धिको नहीं। बुद्धि एक करण है। जैसे झाड़ूसे साफ करते हैं, ऐसे ही बुद्धिके द्वारा निवृत्ति करते हैं। बुद्धिके द्वारा प्राप्ति नहीं होती। सत्-तत्त्व नित्य प्राप्त है। असत्‌की सत्ता, महत्ता और अपनापन ही बाधा है।

परमात्माकी प्राप्ति त्याग करनेसे होती है, त्याग होनेसे नहीं होती। शरीरका त्याग होने (मरने)-से क्या परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है?

एकान्त-सेवन सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंको बढ़ाता है। यदि आपमें तमोगुण है तो एकान्तमें नींद बढ़िया आयेगी। यदि आपमें रजोगुण है तो संसारका चिन्तन बढ़िया होगा, क्योंकि काम करते समय चिन्तनका मौका नहीं मिलता।

*** *** ***

शरीर संसारकी वस्तु है, व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। **शरीरको संसारसे अलग (व्यक्तिगत) मानकर शरीरको सुख देना चाहते हैं—यह गलती है।** यदि शरीर आपका है तो फिर उसे बीमार क्यों होने देते हो? कमजोर, बूढ़ा क्यों होने देते हो? आँखें आपकी हैं तो फिर चश्मा क्यों लगाते हो?

जब संसारमें आये थे, तब पासमें कुछ नहीं था और जायँगे तो कुछ भी साथ चलेगा नहीं। अतः सेवा करनेसे अपना कुछ भी खर्च नहीं होता और अपना कल्याण कर सकते हैं मुफ्तमें?

अभावका मोह छोड़कर भावरूप तत्त्वको प्राप्त करो। संसार मिटनेवाला है। मिटनेवाला हमें सुखी कैसे करेगा?

*** *** ***

दूसरे सुखी हों—ऐसा सबका भाव होनेसे सब सुखी हो जायँगे। मुझे सुख हो—ऐसा सबका

भाव होगा तो सब दुःखी हो जायँगे।

आपका जो भाव है, वही आपका स्वरूप है। दूसरेके अहितका भाववाला रावण, कालनेमि आदि होता है।

कल्याण भगवान्‌की कृपासे होता है, हमारे उद्योगसे नहीं होता। इसलिये गीताके अन्तमें अर्जुन कहते हैं—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत**' (गीता १८।७३) 'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है।'

पृथ्वी सब कुछ सह लेती है, इसलिये उसे माता कहते हैं। भगवान् पिताकी तरह और भक्त माताकी तरह होते हैं। रामायणमें आया है—

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू॥

(मानस, अयोध्या० २१६।१)

जिन्होंने रामको देखा और रामने जिनको देखा, वे मुक्तिके योग्य (अधिकारी) हो गये। परन्तु जिन्होंने भरतको नहीं देखा, प्रत्युत भरतने जिनको देखा, वे तो मुक्त ही हो गये!

*** *** ***

शरणागति सबसे सुगम साधन है और इसके सब अधिकारी हैं। **भगवान् शरणागतका त्याग नहीं कर सकते। जब भगवान् त्याग नहीं कर सकते तो फिर शरणागतका क्या काम बाकी रहा?**

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—ऐसा कहनेमें क्या कठिनता है? क्या बाधा है? जीव उन्हींका तो अंश है। भगवच्चरणोंकी शरण होकर निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक हो जायँ। शरण होनेका तात्पर्य है—गले पड़ना। गले पड़नेसे भगवान्‌को आनन्द होता है; क्योंकि उनका काम ही पालन करना है। शरणागतिसे भगवान् पकड़में आ जाते हैं, क्योंकि यह उनकी कमजोरी, कच्चापन है। शरणागत कौन है, कैसा है—यह वे देखते ही नहीं। भगवान् शरणागतके पराधीन हो जाते हैं।

शरणागत भक्तको भगवान् कर्मयोग भी दे देते हैं और ज्ञानयोग भी। मुक्ति तो भगवान्‌ने पूतनाको भी दे दी थी। शरणागत भक्तको तो भगवान् अपने-आपको दे देते हैं।

मैं कुछ कर सकता हूँ—यह अहंकार जबतक रहेगा, तबतक शरण होना कठिन है। तभी कहा है—***'निरबलके बल राम'***। निर्बल वह है, जिसमें अपने बलका अभिमान नहीं है।

*** *** ***

गायको इन्जेक्शन लगाकर निकाला गया दूध खूनके समान है। यह गौहत्यासे भी बड़ा पाप है।

*** *** ***

स्वार्थ और अहंकारका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करें तो उद्धार हो जायगा। अपने उद्धारके लिये अलग कुछ करनेकी जरूरत नहीं। चारों वर्ण अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा दूसरे वर्णवालोंकी सेवा करें।

अपना कर्तव्य-कर्म ही पुष्प है, पूजाकी सामग्री है। अपने कर्मोंके द्वारा पूजा करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**' (गीता १८।४६)।

पत्र-पुष्प आपने नहीं बनाये, मुफ्तमें मिले हैं। मुफ्तमें मिली चीजको भगवान्‌को अर्पण कर दें तो मुफ्तमें कल्याण हो जाय।

संसारकी हरेक चीज एक-दूसरेके सुखके लिये है, अपने लिये नहीं। भारतीय संस्कृतिमें सबके साथ एकता स्वाभाविक थी।

*** *** ***

एक 'यह' है और एक 'है' है। 'यह' को 'है' प्रकाशित करता है। पर 'मैं' न तो 'यह' है और न 'है' ही है। 'मैं' न देखनेमें आता है, न जाननेमें आता है। 'यह' टिकता नहीं, 'है' मिटता नहीं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीर 'यह' है, फिर 'मैं' कहाँसे आया? 'मैं' केवल आपकी स्वीकृति है। **सम्पूर्ण जगत् 'मैं' से प्रकट हुआ है।**

*** *** ***

'मैं' और 'मेरा' कुछ नहीं है, सब 'तू' और 'तेरा' है।

साधु हो जाना, गृहस्थ छोड़कर चले जाना त्याग नहीं है। इस त्यागसे कल्याण नहीं होता, अन्यथा मरनेवाले सबका कल्याण हो जाता। 'मैं' और 'मेरे' का त्याग ही वास्तवमें त्याग है।

परिस्थितिको बदलनेका उद्योग निष्फल है और उसके सदुपयोगका उद्योग सफल है।

*** *** ***

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव नहीं है, प्रत्युत अहंग्रह उपासना है। तत्त्वज्ञानीको भी 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव नहीं होता। किसीको भी ऐसा अनुभव नहीं होता।

पहले 'मेरा कुछ नहीं है', फिर 'मुझे कुछ नहीं चाहिये', फिर 'मैं कुछ नहीं हूँ', फिर तत्त्वकी प्राप्ति—यह साधनका क्रम है।

जो कभी होती है, कभी नहीं होती, वह सीखी हुई झूठी बात होती है। अनुभव सदाके लिये होता है। मैं विवाहित हूँ—यह लौकिक स्वीकृति भी कभी ढीली नहीं होती, फिर अनुभव कैसे ढीला होगा? अनुभव तो स्वीकृतिसे भी आगे है।

*** *** ***

स्वभाव सुधरा हो तो मनुष्य कहीं जाय, सुख पायेगा। स्वभाव बिगड़ा हो तो मनुष्य कहीं जाय, दुःख पायेगा।

'हम सत्य बोलेंगे'—इसकी अपेक्षा 'हम झूठ नहीं बोलेंगे'—यह नियम लेना बढ़िया है। कारण कि 'हम सत्य बोलेंगे'—ऐसा नियम लेनेसे व्यवहारमें बहुत कठिनाई होगी।

*** *** ***

शरीर मैं नहीं हूँ—यह ज्ञान ठहरता नहीं तो यह ज्ञानका दोष है कि आपका? ज्ञान बुद्धिसे बड़ा है, फिर वह बुद्धिकी पकड़में कैसे आयेगा?

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्—ये चारों उत्तरोत्तर बड़े हैं। आप अहम्‌से भी बड़े हैं। पहले यही अनुभव होगा कि 'यह मैं नहीं हूँ'। 'यह मैं हूँ'—यह बादमें होगा।

*** *** ***

कर्मचारियोंको मालिकका विरोध न करके उसकी गलत नीतिका विरोध करना चाहिये।

*** *** ***

भगवान्‌के समान दानी कोई नहीं है। वे जिसे देते हैं, उसे वह चीज अपनी ही मालूम होती है। ऐसी गुप्तरीतिसे देनेवाला और कोई नहीं है।

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्कि० १२।१)

लोग झूठा एहसान भी कर देते हैं, पर भगवान् सच्चा एहसान भी नहीं करते।

*** *** ***

भगवान् सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें समान रीतिसे व्यापक हैं। हमारा आकर्षण भोगोंमें होगा तो भगवान् कैसे मिलेंगे? गायके थनोंमें लगा चींचड़ दूधकी जगह खून ही पीता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें दूध है ही नहीं। सब जगह भगवान् परिपूर्ण हैं, फिर भी हम दु:ख पाते हैं।

संसार मेंहदीके पत्तेकी तरह बाहरसे हरा दीखता है, पर भीतरमें परमात्मरूप लाली परिपूर्ण है। आप सांसारिक सुख लेनेमें लगे हो, फिर परमात्मा कैसे मिलेंगे?

शरीर-संसारको भूलते ही भगवान् प्रकट हो जायँगे। 'नहीं' को 'है' मानना ही भगवत्प्राप्तिमें परदा है।

संसार और परमात्मा आपसमें नहीं मिल सकते। अन्धकारको प्रकाशमें मिला सकते हैं क्या? सभी विकार संसारमें होते हैं। तत्त्व आकाशकी तरह निर्विकार है।

संसारका अन्त:करणपर असर पड़ता है, क्योंकि दोनोंकी जाति एक है। अपनेपर असर नहीं पड़ता—यह सच्ची बात है।

*** *** ***

परमात्माकी प्राप्तिमें जानना और मानना मुख्य है। पारमार्थिक उन्नति भविष्यकी वस्तु नहीं है, और सांसारिक उन्नति वर्तमानकी वस्तु नहीं है।

असत्‌का अभाव है—यह सत्य है और सत्‌का भाव है—यह भी सत्य है, और सत्यको स्वीकार करना है। सत्यको स्वीकार करोगे तो सत्यकी प्राप्ति हो जायगी।

भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है—यह ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक दृष्टि है।

सांसारिक वस्तुओंको भगवान्‌का मान लेनेसे उन वस्तुओंका जहर नहीं चढ़ेगा।

भगवान्‌के सिवाय कोई मेरा नहीं है। संसार मेरा है तो केवल सेवा करनेके लिये मेरा है, कुछ लेनेके लिये नहीं।

*** *** ***

भगवान्‌का अनन्यप्रेम चाहते हो तो कम-से-कम नाशवान्‌से प्रेम मत करो।

'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७।१९) **अर्थात् सब कुछ भगवान् हैं—इससे आगे कोई चीज नहीं है।** इसमें कोई मतभेद नहीं है। सभी मत इसमें आ जाते हैं। यह भगवान्‌का सिद्धान्त है। भगवान्‌के सिद्धान्तमें सब सिद्धान्त मिल जाते हैं।

दार्शनिक विषय और गीताका विषय भिन्न-भिन्न है।

साधकको मत, वाद, सम्प्रदायके पचड़ेमें नहीं पड़ना चाहिये। अपने मतके अनुसार आचरण करो,

पर दूसरेके मतकी निन्दा या खण्डन मत करो। निन्दा या या खण्डन करनेसे साधनमें बाधा लगेगी, कल्याण नहीं होगा।

*** *** ***

जैसे भीतरकी अग्नि (जठराग्नि) कमजोर हो तो भोजन पचता नहीं, ऐसे ही भीतर लगन न हो तो सत्संगकी बातें पचती नहीं। भीतर असली लालसा हो, जोरदार भूख हो, तब लाभ होता है। **सत्संगकी बातोंसे लौकिक-पारमार्थिक प्रत्येक कार्यका सुधार होता है।**

त्यागी मनुष्य, सन्त अच्छे लगते हैं, पर हम त्यागी हो जायँ—यह अच्छा नहीं लगता। कारण यह है कि भीतर भोग और संग्रहकी लालसा है। जबतक भोग और संग्रहकी लालसा रहेगी, तबतक कोरी बातें सीख जाओगे, वे जीवनमें नहीं आयेंगी।

भोगोंकी चाहसे परमात्मा नहीं मिलते, पर परमात्माकी चाहसे भोग और मोक्ष दोनों मिलते हैं।

अनन्त माताओंमें दया भगवान्‌से आयी है। भगवान्‌में दया माताओंसे नहीं आयी है।

आप 'साधक-संजीवनी' आदरपूर्वक समझ-समझकर पढ़ो तो अन्तःकरणमें फर्क जरूर पड़ेगा।

*** *** ***

कामनासे सजगता, चेतनता आती नहीं, प्रत्युत ढक जाती है और बेहोशी आती है। **जबतक कामना रहती है, तबतक असली बात समझमें नहीं आती।** नारदजीके द्वारा वर माँगनेपर भगवान्‌ने कहा—

कुपथ माग रुज व्याकुल रोगी। वैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ॥

(मानस, बाल० १३३।१)

परन्तु कामनाके कारण नारदजी भगवान्‌की स्पष्ट वाणीको भी समझ नहीं सके। जिसके मुखमें नमककी डली रखी हुई है, वह मिश्रीको नहीं समझ सकता। भीतरमें संसारकी सत्ता, महत्ता और अपनापन पकड़ा हुआ है, इसलिये पारमार्थिक बात समझमें नहीं आती।

*** *** ***

संसारका वियोग भी अभी है और परमात्माकी प्राप्ति भी अभी है।

भगवान्‌के समान आश्रय देनेवाला कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। शरण लेनेवालेकी मुख्यता और शरण देनेवालेकी गौणता होती है। भगवान्‌ने तो आपको आश्रय दे रखा है, केवल आपको स्वीकार करना है। जैसे बच्चा माँकी कृपाको नहीं समझता, ऐसे ही हम भगवान्‌की कृपाको नहीं समझते।

भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं और दयालु भी हैं। ऐसे भगवान्‌के रहते हम अपनेको अनाथ क्यों मानें?

भगवान्‌की मरजीमें अपनी मरजी मिला दें—इसका नाम शरणागति है। करनेमें सावधान रहें, होनेमें प्रसन्न।

*** *** ***

आप शरीरके साथ न रहकर परमात्माके साथ रहें। शरीरमें स्थिति आपने मानी है, है नहीं।

आप शरीरमें नहीं रहते हैं, प्रत्युत परमात्मामें ही रहते हैं।

शरीर प्रतिक्षण बदलता है, एक क्षण भी आपके साथ नहीं रहता। शरीरको अपना मानना बेईमानी है। बेईमानी छोड़ दो तो मुक्ति है। बेईमानीसे बन्धन है, ईमानदारीसे मुक्ति है।

*** *** ***

थोड़ा धन होनेसे आप विशेष पुण्य कर सकते हैं, ज्यादा धन होनेसे नहीं।

साधु होनेसे ही लाभ नहीं होता। लाभ भीतरके त्यागसे होता है।

दान-पुण्य करनेसे कल्याण नहीं होता। कल्याण भावसे होता है।

जिसके रोग-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, वे भगवान् भी हमसे प्रेम चाहते हैं।

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि आपके पास जो कुछ है, वह दूसरोंके लिये है।

संसारकी सेवा करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होगा और भगवान्‌को (अपना मानकर) याद करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होगा।

भीतरकी समानता रहनी चाहिये। बाहरकी समानता पतन करनेवाली है।

*** *** ***

विचार करें, भगवान्‌की दी हुई चीजको अपना मानना, पर भगवान्‌को अपना न मानना उचित है क्या?

आप निरन्तर रह रहे हैं और शरीर निरन्तर मिट रहा है, फिर दोनोंमें मेल कैसा? क्या सूर्यका अमावसकी रातसे विवाह, गठबन्धन हो सकता है?

पीड़ा पहले थी नहीं, हो गयी, फिर मिट गयी, पर आप तो वही रहे। अतः आप पीड़ाको जाननेवाले हैं। उससे अलग हैं।

सुखको मेरा मान लोगे तो दुःख मिटेगा नहीं। सुख भी मेरा नहीं, दुःख भी मेरा नहीं। प्रकृतिमें स्थित होनेपर ही सुख-दुःख होते हैं। प्रकृतिमें आप सदा स्थित रह सकते ही नहीं।

श्रोता—भगवान् पहले तकलीफ क्यों देते हैं?

स्वामीजी—परीक्षा करते हैं कि तुम्हारा कितना विश्वास है—यह तुम्हें मालूम हो जाय।

*** *** ***

प्रत्येक भाई-बहन अपने उद्धारकी चेष्टा खुद करें, दूसरेको न देखें। जैसे, रोग होनेपर खुद दवा लेते हैं, भूख लगनेपर खुद भोजन करते हैं, दूसरेकी तरफ नहीं देखते, कि उसने दवा ली है या नहीं? भोजन किया है या नहीं? ध्रुव, प्रह्लाद आदि तर गये तो अच्छी बात है, पर आपने क्या किया? आप भी तर जाओ, अपना काम कर लो, दूसरोंको मत देखो।

'वासुदेवः सर्वम्' अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा दीखे चाहे न दीखे, इसे स्वीकार कर लो और जो दीखे, उसे प्रणाम करो। बाहरसे प्रणाम करनेमें शर्म आये तो कम-से-कम मनसे सबको प्रणाम करो। फिर कोई साधन बाकी नहीं रहेगा।

*** *** ***

उत्पत्ति-विनाश, आरम्भ-अन्त होना प्रकृतिका विभाग है। हमें इससे विमुख होना है। जिससे विमुख होना है, उसका स्वतः अभाव हो रहा है।

असत्‌को धारण (स्वीकार) न करना भी सत्संग है और सत्‌को धारण करना भी सत्संग है। असत्‌को असत् स्वीकार कर लें और सत्‌को सत् स्वीकार कर लें, फिर बाकी क्या रहा? फिर दुःख कैसे होगा?

अच्छे देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिका भी वियोग अवश्यम्भावी है। अतः संयोगका लाभ ले लेना चाहिये।

*** *** ***

आसुरी-सम्पत्ति असत्‌का संग है। असत्‌के संगसे बन्धन होता है। आसुरी-सम्पत्तिका त्याग सत्‌का संग है। सत्‌के संगसे मुक्ति होती है। असत्‌का आकर्षण रहते हुए मुक्ति नहीं हो सकती। असत्‌का आकर्षण है—कामना। वस्तु, व्यक्ति, मान, बड़ाई, निरोगता आदि चाहना असत्‌का संग है।

असत्‌में रुचि होना घोर कुसंग है। असत्‌में रुचि रहते सच्चिन्तन, सच्चर्चा और सत्कर्म हो सकते हैं, पर 'सत्संग' नहीं हो सकता। 'सत्कर्म' से स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्ति हो सकती है, पर जीवका कल्याण 'सत्संग' से ही हो सकता है।

असत्‌के संगका त्याग करना मुख्य काम है। इसलिये निषेधात्मक साधनकी मुख्यता है। आप स्वयं सत् तो हैं ही, अतः असत्‌का त्याग ही बाकी रहा।

असत्‌को सत्ता देना, महत्ता देना और अपना मानना—ये तीन बाधाएँ हैं। इन तीन बाधाओंके रहते कितना ही साधन करो, वहीं-के-वहीं रहोगे, जैसे—रस्सी नौकासे बँधी रहे तो रातभर नौका चलाते रहो, वहीं-के-वहीं रहोगे।

*** *** ***

संसारका काम तो बिगड़ेगा ही और भगवान्‌का काम सुधरेगा ही।

परमात्माकी अप्राप्ति नहीं है। प्रत्युत उसकी तरफ दृष्टि नहीं है। दृष्टि न रहनेसे वह अप्राप्त दीखता है।

जो है, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है और जो नहीं है, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है।

प्रकृतिकी साम्यावस्थामें प्रलय होता है और परमात्माकी साम्यावस्थामें मुक्ति होती है।

सहजावस्था स्वाभाविक है, इसलिये उसे उत्तमा कहा है—**'उत्तमा सहजावस्था'**। सहजावस्था सब अवस्थाओंमें भी है और अवस्थाओंसे अतीत भी है।

*** *** ***

परमात्मप्राप्तिमें लगनकी जरूरत है, गृहस्थ छोड़नेकी जरूरत नहीं। हम परिस्थितिको बदलना चाहते हैं—यह गलती है। परिस्थितिका सदुपयोग करनेसे हम ऊँचे उठेंगे। दुःखदायी परिस्थितिमें मनुष्यका विकास होता है, सुखदायी परिस्थितिमें ह्रास।

चाहे साधु बनो, चाहे गृहस्थ बनो, जबतक चाह रहेगी, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी।

*** *** ***

ब्रह्मलोकतक सब पतनका मार्ग है। भगवत्प्राप्तिके सिवाय सब कुछ पतन है। मुक्तिको प्राप्त होना भी भगवत्प्रेमसे पतन है।

भोगोंमें आसक्ति होगी तो भोगयोनि ही मिलेगी।

परमात्माके सम्मुख होनेके समान कोई पुण्य नहीं है और उनसे विमुख होनेके समान कोई

पाप नहीं है।

मुक्ति स्वर्गादि लोकोंकी तरह एक स्थानविशेषमें नहीं है। मुक्त आप हैं ही। मिटनेवालेसे अलग हो जाओ तो मुक्ति स्वतः सिद्ध है।

संसारकी प्राप्तिमें तो भाई-भाईमें लड़ाई हो जाती है, पर परमात्माकी प्राप्तिमें दुनियामात्र सहायक हो जाती है।

सांसारिक सुख क्यों नहीं टिकता? क्योंकि वह आपका है ही नहीं।

*** *** ***

शरीरके आरामकी इच्छा तत्त्वप्राप्तिमें महान् बाधक है। आप अपने जानेवालेको चाहते हो, फिर रहनेवाला आपको कैसे मिलेगा? **अनुकूलता भोगीको अच्छी लगती है, योगीको नहीं। योगी अनुकूलता-प्रतिकूलतासे रहित होना चाहता है।** वास्तवमें आप कुत्ते, गधेके समान भी भोग नहीं भोग सकते।

धनी आदमीको जितना दुःख है, उतना निर्धनको नहीं है। धनी आदमी राज्य (सरकार)-से डरता है, पर निर्धन चोरसे भी नहीं डरता।

*** *** ***

अन्तःकरणको अपना मानकर उसे शुद्ध करनेसे सीमित शुद्धि होती है। उसे शुद्ध करनेका सर्वश्रेष्ठ उपाय है—अपनापन छोड़ देना। प्रत्येक वस्तु भगवान्‌की ही है और भगवान्‌की ही रहेगी, पर अपनापन करके हम उसे अशुद्ध कर देते हैं। आप संसारमात्रको भगवान्‌के अर्पण कर दो तो संसारमात्र आपके लिये पवित्र हो जायगा।

सच्चे सन्त चेला नहीं बनाते, गुरु बनाते हैं। चेला वही बनाते हैं, जिनमें कुछ लेनेकी भूख है। जिसमें कुछ लेनेकी भूख है, वह गुरु नहीं हो सकता।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) बाँकुड़ामें बीमार हुए तो किसीने कहा कि महामृत्युञ्जय-जप आदि अनुष्ठान किया जाय। सेठजीने सुना तो कहा कि जो ऐसा करेगा, वह मेरा शत्रु होगा। क्यों? क्योंकि वह हमारे प्यारे प्रभुके विधानको बदलना चाहता है। मना करनेपर भी वे वहाँसे यहाँ गंगा-किनारे (गीताभवनमें) आये कि मैं अशुद्ध भूमिमें शरीर नहीं छोड़ूँगा।

*** *** ***

अभी परमात्मप्राप्तिका बड़ा सुन्दर अवसर मिला है। केवल परमात्मप्राप्तिकी उत्कट इच्छा हो जाय तो इसीसे प्राप्ति हो जाय। केवल परमात्माकी इच्छा हो, साथमें अन्य इच्छा न हो।

जैसे प्यास और जल, भूख और अन्न एक चीज है, ऐसे ही परमात्माकी भूख और परमात्मा एक चीज है। अन्न-जल सब जगह नहीं मिलते, पर परमात्मा सब जगह हैं।

भगवान् कहते हैं—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५।१५) 'मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ'। अतः सब शरीर भगवान्‌के ही मन्दिर हैं। मन्दिर तरह-तरहके हैं, पर ठाकुरजी एक ही हैं। आपकी दृष्टि उस एक भगवान्‌की तरफ ही रहनी चाहिये। **मन्दिरकी सजावटको मत देखो, उसमें विराजमान ठाकुरजीको देखो।**

परमात्मा मैं-पनसे भी नजदीक हैं। मैं-पन आपसे दूर हैं। मैं-पनके साथ आप निरन्तर नहीं रह सकते। सुषुप्तिमें मैं-पन नहीं रहता। परन्तु परमात्माके साथ आप निरन्तर रहते हैं।

जैसे ज्वर आगन्तुक है, ऐसे बुराई भी आगन्तुक है। **अवगुणोंको देखोगे तो देखते-देखते अवगुणोंके घर बन जाओगे, और भगवान्‌को देखते-देखते भगवान्‌के घर बन जाओगे।**

*** *** ***

गर्भपात महान् पाप है। गर्भपात करनेवालेका अन्न खानेसे पाप लगता है। इसलिये जिस घरमें गर्भपात किया गया हो, उस घरकी भिक्षा हम ग्रहण नहीं कर सकते। जो गर्भपात किये हुए व्यक्ति धोखेसे हमें भिक्षा देंगे तो उनको इस विश्वासघातका महान् पाप लगेगा। वे महान् नरकोंमें जायँगे।

*** *** ***

ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये—यह अशान्तिका मन्त्र है। इससे अशान्ति-ही-अशान्ति होगी, दुःख-ही-दुःख होगा। कामना रखनेसे केश जितना भी लाभ नहीं होगा और नुकसान, पाप, दुःख बाकी नहीं रहेगा। शान्ति कामनाके त्यागसे ही मिलेगी।

*** *** ***

वास्तवमें प्रत्यक्ष परमात्मा ही हैं। संसार प्रत्यक्ष नहीं है। असत्‌की सत्ता ही नहीं है। केवल सत्-ही-सत् है। जैसे अनपढ़ व्यक्ति देखते हुए भी पढ़ नहीं सकता, ऐसे ही स्थूल बुद्धिवाले मनुष्य परमात्माको देख नहीं सकते। इसलिये परमात्माको 'सूक्ष्म' कहा गया है।

'वासुदेवः सर्वम्' में न कोई आचार्य है, न कोई मतभेद। हिन्दू संस्कृतिके मूलमें भी कोई व्यक्ति, आचार्य नहीं है। यह हिन्दू-संस्कृतिकी विलक्षणता है। हिन्दू-संस्कृति 'धर्म' है, सम्प्रदाय नहीं। सम्प्रदाय गुरुसे चली परम्परामें होता है।

सम्प्रदायोंमें खटपट तत्त्वको जाननेवालोंमें नहीं होती, प्रत्युत 'जय' बोलनेवालोंमें होती है।

सम्प्रदायोंमें अनन्यभाव संसारसे हटकर परमात्मामें लगनेके लिये है, एक-दूसरेकी निन्दा करने अथवा दूसरेको नीचा दिखानेके लिये नहीं। साम्प्रदायिक भेद करनेवाले वास्तवमें श्रेष्ठ पुरुष नहीं हैं, प्रत्युत राग-द्वेष करनेवाले हैं।

अपनी एक उपासना करनी चाहिये। दूसरी उपासनाको साथ मिलाना संकरदोष है। प्रत्येक स्त्रीका अपना-अपना पति परमेश्वर है, वह दूसरेके पतिको परमेश्वर क्यों माने?

यह सत्संग भगवान्‌की कृपासे हो रहा है!

*** *** ***

प्रारब्धका काम है—जाति, आयु और भोग। प्रारब्ध कर्म नहीं कराता, फल देता है। कर्म कराना प्रारब्धका काम नहीं है। कर्मका फल कर्म मानें तो 'अनवस्था' होगी, कर्म-परम्परा कभी मिटेगी ही नहीं।

संसार हमारेमें गुण अधिक मानता है और अवगुण कम। अतः लोग दूसरेको जल्दी ज्ञानी मान लेते हैं। पर वास्तवमें वह ज्ञानी है या अज्ञानी—इसका पता नहीं लगता।

ज्ञानीके सामने प्रारब्धके अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति तो आती हैं, पर वह उसका भोग नहीं करता अर्थात् सुखी या दुःखी नहीं होता। यदि वह प्रारब्धका भोग करे तो फिर ज्ञानी और अज्ञानीमें क्या फर्क हुआ? सुख-दुःख अन्तःकरणतक पहुँचते हैं, उससे आगे स्वरूपतक नहीं पहुँचते। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वतक सुख-दुःख कैसे पहुँचेंगे?

यदि काम-क्रोधादि विकारोंमें फर्क न पड़े तो समझें कि अभी साधन हाथ नहीं लगा है।

असली साधन हाथ लग जाय तो बहुत शीघ्र उन्नति होती है।

*** *** ***

देहवासना (मोहकलिल) और शास्त्रवासना (श्रुतिविप्रतिपत्ति)—ये दोनों एक ही हैं (गीता २।५२-५३)। वासना अहम्‌में रहती है।

श्रोता—भक्तोंने भगवान्‌को निष्ठुर कहा है, तात्पर्य?

स्वामीजी—भगवान् बड़े निष्ठुर हैं—यह भक्त कहता है, संसार नहीं। निष्ठुर कहना भगवान्‌की स्तुति है।

भजन प्रकट करनेसे आफत आती है। भजन जितना गुप्त होता है, उतना तेज होता है। यदि प्रकट हो जाय तो तत्परतासे भजन करे। नियममें पक्के रहे। पक्का रहनेपर सभी सहायक हो जाते हैं। कष्ट आये तो उसे सहन करे—यह तप है। अन्तमें विजय अपनी है, इसमें सन्देह नहीं।

साधककी प्रसिद्धि होना बहुत बड़ा विघ्न है। अत: साधकको प्रसिद्धिसे बचना चाहिये।

एक भजन किया जाता है, एक होता है और एक है। ये तीनों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

*** *** ***

तत्त्वज्ञानमें अपने स्वरूपकी प्राप्ति है, फिर इसमें बाधा देनेवाला कौन है? इसमें कठिनता क्या है? स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माकी प्राप्तिमें क्या कठिनता है? क्या माँकी प्राप्ति कठिन है? पर प्राप्तिकी इच्छा ही न हो तो क्या करें?

असली लाभ होगा असली लगनसे। बढ़िया भोजन चाहते हैं पर भूख बढ़ाना नहीं चाहते। भूख न हो तो बढ़िया भोजन पचेगा नहीं। परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है, उसकी भूख कठिन है।

श्रोता—भगवान्‌में प्रेम कैसे हो?

स्वामीजी—प्रेमके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करो। असली प्रार्थना न हो तो नकली ही करो। नकल भी असल हो जायगा। भगवान्‌के पीछे पड़ जाओ।

*** *** ***

मैं सदा अमर रहनेवाला हूँ और शरीर सदा मृत्युमें रहनेवाला है—इस बातका आदर करें। यह सबके अनुभवकी बात है। जीव देवता बने या राक्षस, मनुष्य बने या पशु, स्वयं वही रहता है। अगर मरनेसे डर लगता है तो कोरी बातें सीखीं हैं, अनुभव नहीं किया है। तोता यों तो राधेकृष्ण-राधेकृष्ण करेगा, पर बिल्ली आ जाय तो टें-टें करेगा।

श्रोता—अगर हमारे सामने सिंह आ जाय तो?

स्वामीजी—सिंह मरनेवालेको ही मारेगा। जीनेवालेको कौन मारेगा? शरीर सिंहके काम आ जाय तो अपनेमें क्या फर्क पड़ा?

*** *** ***

गीताका विज्ञान तो परमात्मप्राप्तिमें सहायक है, पर आधुनिक विज्ञान बाधक है, पतन करनेवाला है। संसार पूरा है ही नहीं, फिर संसारकी पूरी चीज कैसे मिले? परमात्मा पूरे हैं, फिर वे अधूरे कैसे मिलें? **संसार अधूरा ही मिलता है और परमात्मा पूरे ही मिलते हैं।**

*** *** ***

संसारका सम्बन्ध असत् है। सम्बन्ध छोड़नेका उपाय है—अपनी इच्छा छोड़कर दूसरेकी इच्छा-

पूर्ति करना। दूसरेकी सेवा करो, पर बदलेमें सेवाकी चाह मत रखो। सेवा भले ही ले लो, पर सेवाकी चाह छोड़ दो। आशा रखनेसे वस्तु ज्यादा नहीं मिलेगी और आशा न रखनेसे वस्तु कम नहीं मिलेगी।

भीतरमें कोई आशा न रखना सत्संग है। आशा रखना असत्का संग है।

भला बननेके लिये कोई प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं। बुराई छोड़ दो तो भले हो जाओगे।

त्यागमें अभिमान नहीं होता। अभिमान होता है तो वह त्याग नहीं है।

'यह दुष्ट है' और 'यह सज्जन है'—इन दोनोंमें (दुष्ट और सज्जनमें) फर्क है, पर 'है' में क्या फर्क है?

*** *** ***

मूलमें साधककी भूखकी कमी है। साधक ईश्वर, समय, भाग्य आदिकी कमी देखता है, अपनी कमी नहीं देखता और निराश हो जाता है। सच्ची भूख हो तो मार्ग अवश्य मिलता है, परमात्मा अवश्य मिलते हैं। अत: मेरा कल्याण कैसे हो—इस भूखको बढ़ाओ। तभी उलझनें मिटेंगी। भगवान्से प्रार्थना करो। भगवान् आपको भी जानते हैं और आपके अनुकूल गुरुको भी जानते हैं। **जहाँतक हो सके, गुरु मत बनाओ।** सत्संग सुनो। जहाँ मन माने, वहाँ सुनो। ठीक न लगे, लाभ न दीखे तो वहाँसे चल दो, पर निन्दा मत करो।

भगवान्से प्रार्थना करो कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं' और नाम-जप करते रहो, फिर सच्चा मार्ग अपने-आप मिल जायगा—

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

(मानस, बाल० २५९।३)

हमारा फिर जन्म होगा—ऐसे अपने पुनर्जन्मको निमन्त्रण मत देना।

*** *** ***

जैसे दीपक वस्तुको भी प्रकाशित करता है और अपनेको भी, ऐसे आप अहम्को भी प्रकाशित करते हैं और अपनेको भी। **'चुप' होनेसे अहम् गल जायगा और जीवन्मुक्ति हो जायगी।**

मैं शरीर नहीं हूँ—यह अनुभव हो गया तो ज्ञानमार्ग पूरा हो गया, ज्ञानमार्गका काम हो गया।

*** *** ***

हमारे धर्ममें किसीका अपमान नहीं है। छुआछूतका विचार करके हम किसी मनुष्यका अपमान, तिरस्कार नहीं करते, प्रत्युत अपनी शुद्धि करते हैं। इसमें दूसरेकी क्या हानि है? स्नान तो हम करते हैं दूसरेसे थोड़े ही स्नान करनेको कहते हैं?

*** *** ***

दूसरोंकी चाहना पूरी करना कर्मयोगीका काम है। कुछ भी चाहना न रखना ज्ञानयोगीका काम है। भगवान्की चाहनामें अपनी चाहना मिला देना भक्तका काम है।

भाव शब्दसे भी अधिक व्यापक है। भाव त्रिलोकी तक पहुँचता है। इसलिये सबके हितका भाव रखें—यह बड़ा भारी पुण्य है। भावोंको शुद्ध बनाये रखना बड़ी तपस्या है—**'भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते'** (गीता १७।१६)।

*** *** ***

मूर्तिकी पूजा करना हमारा सिद्धान्त नहीं है। वास्तवमें हम मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा करते हैं। शरीरकी सजावट, शृंगार करना ही मूर्ति-पूजा है। कई मूर्तिपूजाका विरोध करते हैं, पर वेदादि ग्रन्थोंको मानते हैं तो क्या वेदादि ग्रन्थ मूर्ति नहीं हैं। एक पत्थरकी मूर्ति है, एक कागजकी मूर्ति है। दूसरे सम्प्रदायवाले कहते तो हैं कि हम मूर्तिपूजा नहीं मानते, पर वास्तवमें वे भी मूर्तिपूजा ही करते हैं। रुपया भी मूर्ति है, नहीं तो (मूर्तिके बिना) कोरा कागज किस कामका?

*** *** ***

गुरु बनकर अपनी पूजा करानेवाला भगवद्द्रोही हैं, वैसे ही जैसे राजद्रोही होता है। उसके पूजनसे कल्याण नहीं होता। तत्त्वज्ञ महापुरुष और भगवान्‌में कोई भेद नहीं होता, पर वे महापुरुष अपनी पूजा नहीं करवाते। गुरुकी वाणी श्रेष्ठ होती है। गुरु तत्त्व है। गुरु मनुष्य नहीं होता। सच्चे गुरु भगवान्‌का ही पूजन करवाते हैं, अपना नहीं।

जो चीज मूल्य देकर मिलती है, वह उससे कमजोर ही होगी। मुक्तिकी बिक्री नहीं होती। जो कहता है कि पहले मेरा चेला बनो, फिर बताऊँगा, वहाँ समझो कि कोई कालनेमि है।

गुरु किसीको मत बनाओ। सत्संग करो, अच्छी बातें सुनो और उनका पालन करो। गुरु भगवान्‌को मानो। **सबसे प्रथम गुरु माता है और सबसे बड़ा गुरु भगवान् हैं।** आपमें कल्याणकी सच्ची लगन होगी तो सच्चा गुरु स्वतः आपको प्राप्त होगा। **सच्चा गुरु नहीं मिला तो इसमें हमारी कमी है।** गुरु बनाया नहीं जाता, बन जाता है।

यदि गुरु बना लिया, पर उनकी बात नहीं मानी तो पाप लगेगा। यदि तत्त्वज्ञ महापुरुषको गुरु बना लिया और उनकी बात नहीं मानोगे, खण्डन करोगे तो नरकोंमें जाओगे।

श्रोता—आपने भी गुरु बनाया होगा?

स्वामीजी—मैंने कभी किसीको गुरु बनाया ही नहीं। गुरुने ही मुझे चेला बना लिया। चार वर्षका बालक क्या करे? माँने चार वर्षकी अवस्थामें मुझे सन्तोंको दे दिया।

शरीरको अपना स्वरूप मानना पशुबुद्धि है। अतः अपनी फोटो देना और पुजवाना पशुबुद्धि है, आसुरी सम्पत्ति है। अपनी फोटो पुजवानेवाला भगवद्द्रोही है, क्योंकि जहाँ भगवान्‌की पूजा होनी चाहिये, वहाँ वह अपनी पूजा करवाता है।

*** *** ***

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध कृत्रिम है। परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध सहज है। अतः सहजावस्था स्वाभाविक है। संसारकी निवृत्ति और परमात्माकी प्राप्ति—दोनों ही सहज हैं।

सहजावस्था सबको स्वतः प्राप्त है। असंगता स्वाभाविक है। कम-से-कम ये चार बातें मान लें तो बड़ा लाभ है—संसारसे हमारा सम्बन्ध था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं।

परमात्मासे बना संसार परमात्मा ही है—यह सर्वोपरि बात है। यही अनन्यता है। यह साधन हमारे अधीन है। भगवान्‌के दर्शन करना हमारे अधीन नहीं है। **दर्शन देना भगवान्‌के अधीन है।** हमारे अधीन जो साधन हैं, उसको करें।

*** *** ***

हम सत्संग करते हैं, गीता-रामायण पढ़ते हैं, गंगा-स्नान करते हैं, फिर हम नरकोंमें कैसे जा सकते हैं? हम दुबारा जन्म कैसे ले सकते हैं?—यह बात हृदयसे पकड़ लेनी चाहिये। मुक्ति जब

होती है, भगवान् माफ करते हैं, तब होती है।

ऐसा सुना है कि जो रात्रि साढ़े ग्यारह या बारह बजे उठकर भजन करता है, वह अन्त समयमें बेहोश नहीं होता। उसे अन्तिम समयतक होश रहता है।

* * * * * * * * *

ज्ञानमार्गमें '**ॐ**' का जप होता है। योगमार्गमें '**सोऽहम्**' का जप होता है। भक्तिमार्गमें '**राम-राम**' आदि भगवन्नामका जप होता है। **गुरुके नामका जप नहीं होता, प्रत्युत आज्ञा-पालन होता है। गुरुके शरीरकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत शब्दकी प्रधानता है।** उस गुरुकी महिमा है, जिसने भगवान्‌की प्राप्ति करा दी—*'बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय'*।

ईश्वरबुद्धि माता-पिता और पतिमें करो। कारण कि माता-पिता और पति हमने नहीं बनाये हैं। परन्तु गुरु हम बनाते हैं। अतः हम गुरुकी बात नहीं मानेंगे तो दोष हमारा होगा।

गुरुके दिये मन्त्रमें शक्ति तभी आयेगी, जब गुरुमें शक्ति हो, वह जीवन्मुक्त हो।

मैं गुरु बने बिना वही बात कहता हूँ, जो गुरु कहता है। आप भगवान् श्रीकृष्णको गुरु मानो और गीताको उनका मन्त्र मानो—यह भी मैं ही कहता हूँ।

माता-पिता शरीरके जनक होते हैं। गुरु, सन्त-महात्मा ज्ञानके जनक होते हैं।

गुरुकी कमी नहीं है। कमी शिष्यकी है। आपकी लगन सच्ची होगी तो गुरु भी मिल जायगा। खास बात लगनकी है। कल्याणकी लगनवाला सच्चा जिज्ञासु कहीं फँसता नहीं। गुरु स्वतः उसके पास आता है। फल पकता है तो तोता स्वतः उसके पास आता है। आपकी सच्ची लगन होगी तो भगवान् कपटी गुरुसे भी छुड़ा देंगे।

जिससे ज्ञान मिले, वह गुरु जो जाता है, चाहे हम उसे गुरु मानें या न मानें। न मानें तो कोई दोष नहीं।

शास्त्रोंमें तत्त्वज्ञ महात्माओंके चरण-रजकी महिमा आयी है, गुरुके चरण-रजका तात्पर्य उनकी कृपासे है।

चेला बननेपर ही बात बतायें—यह साम्प्रदायिक चीज हो सकती है, पर महात्माओंकी यह रीति नहीं है।

* * * * * * * * *

संसारकी कोई वस्तु हमारी नहीं है, क्योंकि उसके मिलनेसे तृप्ति नहीं होती, सन्तोष नहीं होता। यदि वस्तु हमारी तथा हमारे लिये होती तो उसके मिलनेपर हमें सन्तोष हो जाता और हम उसे सदा अपने पास रख सकते। परन्तु त्रिलोकीका राज्य मिलनेपर भी सन्तोष नहीं होता।

श्रोता—मानो कोई हमसे कोई घड़ी माँग ले तो क्या करें?

स्वामीजी—यह देखें कि घड़ीकी आवश्यकता किसको ज्यादा है। यदि दूसरेको घड़ीकी आवश्यकता हमसे अधिक है तो उसे घड़ी दे देनी चाहिये। घड़ीको अपनी मानना दोष है, पर उसकी आवश्यकता देखकर अपने पास रखना दोष नहीं।

* * * * * * * * *

जो सच्चे हृदयसे साधु हो जाता है, उसकी जाति नहीं रहती। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नहीं रहता। वह तो 'अच्युतगोत्र' हो जाता है।

मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाना 'करणसापेक्ष साधन' है और स्वयं भगवान्‌में लगना (अपने-आपको भगवान्‌में लगाना) 'करणनिरपेक्ष साधन' है। करणसापेक्ष साधक योगभ्रष्ट हो सकता है, पर करणनिरपेक्ष साधक योगभ्रष्ट नहीं होता। मैं भगवान्‌का हूँ—यह स्वयं भगवान्‌में लगना है।

सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें श्रद्धा, विश्वास आदि शब्द नहीं आते। ये शब्द साधकोंके लक्षणोंमें आते हैं, जैसे—'**श्रद्दधाना मत्परमा भक्ताः**' (गीता १२।२०)।

घरमें दूसरा व्यक्ति दुःख दे तो साधकको यह समझना चाहिये कि मेरे पाप कट रहे हैं। लोग तो पापोंको काटने तीर्थोंमें जाते हैं, मेरे तो घरमें ही तीर्थ आ गया। घरमें ही गंगा आ गयी।

*** *** ***

सत्संग करो, पर गुरु मत बनाओ। भगवान्‌को पकड़ो, व्यक्तिको मत पकड़ो। भगवान् पूर्ण हैं। व्यक्ति कभी पूर्ण नहीं होता। गुरु बनानेसे मनुष्य एक जगह बँध जाता है, न तो उसे सन्तोष होता है, न दूसरी जगह जा सकता है।

आप सच्चे हृदयसे भगवान्‌के शरण हो जायँ। जिसमें मन लगे, उस मन्त्रका जप करें। परन्तु दूसरे मतका खण्डन, निन्दा, तिरस्कार मत करें।

लौकिक सम्पत्ति (जमीन-जायदाद, धन-सम्पत्ति)-में तो गुरुकी मुख्यता है, वह दे चाहे न दे, परन्तु पारमार्थिक सम्पत्ति (ज्ञान)-में शिष्यकी मुख्यता है। इसलिये दत्तात्रेयके चौबीस गुरु हुए। उन चौबीसमेंसे एक भी गुरुको यह पता नहीं कि हमारा 'दत्तात्रेय' नामका कोई चेला है।

परमात्माकी प्राप्ति कराये बिना गुरुका गुरुपना सिद्ध नहीं होता। सबसे पहली बात है—पापोंसे बचो। जिसको आप पाप जानते हैं, उसको छोड़ो। इसमें गुरुका कोई काम नहीं है।

जिसने मनुष्यशरीर दिया है, उसने अपने कल्याणके लिये विवेक भी दिया है। वह विवेक ही गुरु है। भगवान्‌ने पूरा काम किया है। यदि भगवान्‌ने मनुष्यशरीर तो दे दिया, पर कल्याणके लिये दूसरा गुरु बनाना पड़े तो अधूरा काम किया है, पूरा नहीं। जब भगवान् शरीरके निर्वाह (अन्न-जल)-का भी प्रबन्ध करते हैं तो क्या कल्याणका प्रबन्ध नहीं करेंगे? क्या कल्याण अन्न-जलसे भी कमजोर है? बच्चेसे ज्यादा माँको चिन्ता होती है। ऐसे ही हमारे कल्याणकी ज्यादा चिन्ता भगवान् और महात्माओंको है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७।३)

*** *** ***

'**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करना चाहते हो तो शरीर-मन-वाणीसे दूसरोंकी सेवा करो। लेना ही जड़ता है, देना चिन्मयता है। शरीरसे सेवा करो, वाणीसे मीठा बोलो, मनसे सबका भला चाहो। मनसे किसीका भी बुरा मत चाहो।

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च देहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।१६)

'अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दें, उनकी परवाह न करें, 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है'—ऐसी देहदृष्टिको और लोकलज्जाको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर लम्बा

गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करें।'

—यह साधन है **'वासुदेवः सर्वम्'** का।

प्रत्यक्ष प्रणाम करनेमें कठिनाई हो तो मनसे प्रणाम करो। एक भी भाई-बहन बिना प्रणाम किये न जाय।

'ये भगवान् ही हैं'—इसकी अपेक्षा 'ये भगवान्‌के हैं'—यह मानना सुगम है। सबमें भगवान् हैं, सब भगवान्‌में हैं, सब भगवान्‌के हैं और सब भगवान् हैं—इन चारोंमें कोई एक मान लो।

*** *** ***

माता-पिता, गुरु आदिकी पराधीनतामें भी स्वाधीनता भरी पड़ी है। इनकी पराधीनता स्वाधीनताका मूल है।

आकाशसे क्रमशः वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पैदा हुए तो आकाश ही उन रूपोंमें है। ऐसे ही परमात्मासे सब पैदा हुए तो परमात्मा ही उन रूपोंमें हैं। परमात्माके सिवाय किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। संसार आपकी दृष्टिसे है।

जबतक मनुष्य साधना करता है, तबतक उसकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता रहती है। अतः साधकको ऐसा मानना चाहिये कि 'परमात्मामें संसार है, संसारमें परमात्मा हैं।' फिर ऐसा माने कि 'सब परमात्मा ही हैं।' फिर इसको भी छोड़कर चुप हो जाय—इससे ऊँची चीज कोई है नहीं, होगी नहीं। **'सब परमात्मा ही हैं'—यह झाड़ू है और अन्य सत्ता कूड़ा-कचरा है। झाड़ूसे कूड़ा-कचरा दूर करके झाड़ूको भी फेंक दें।**

जब 'सब परमात्मा ही हैं'—ऐसी बात सुन ली, तो फिर पुनर्जन्म क्यों होगा? कहाँ होगा?

*** *** ***

'यह' कहलानेवली चीज सेवाके लिये है—ऐसा मान लोगे तो उद्धार हो जायगा। परन्तु 'यह' कहलानेवाली चीज परमात्मप्राप्तिमें सहायक है—ऐसा मानोगे तो तत्त्वप्राप्तिमें देरी हो जायगी।

प्रकृति और उसका कार्य 'यह' कहलाता है। **अपने कल्याणके लिये, परमात्मप्राप्तिके लिये 'यह' की जरूरत नहीं है।** जैसे रुपयोंका त्याग (खर्च) ही काम आता है, ऐसे ही 'यह' का त्याग ही काम आता है। स्वयंमें स्थिति होनेसे 'यह' का त्याग अपने-आप हो जायगा। त्याग करोगे तो कर्तृत्व आ जायगा। कर्तृत्व आयेगा तो भोक्तृत्व भी आ जायगा। 'यह' हमारे कामका नहीं है? सेवाके कामका है। जिस वस्तुका आप त्याग करते हो, उस वस्तुसे आप ऊँचे उठ जाते हो।

*** *** ***

तत्त्वका अनुभव हरदम होता है, कभी अननुभव होता ही नहीं। असत्‌का उपयोग संसारमात्रके लिये है। उसकी कामना, ममता और तादात्म्य बन्धनकारक है। उसे अपने लिये मत मानो।

लेनेकी इच्छा छोड़ते ही साधन शुरू हो जायगा।

*** *** ***

जैसे नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार होते हैं, ऐसे ही पारमार्थिक उन्नतिके लिये, परमात्मप्राप्तिके लिये भी नये-नये साधनोंका आविष्कार होता है।

'लेना' जड़ता है, 'देना' चेतनता है—यह नया आविष्कार है। 'लेना' बन्द करते ही साधन शुरू हो जाता है।

यदि कोई २३ घण्टे ५९ मिनट साधन करे, पर एक मिनट साधन न करे तो वह 'साधक' नहीं हुआ।

*** *** ***

आप यह अनुभव करें कि जितने भी काम होते हैं, वे सब आपकी जानकारी (ज्ञान)-में होते हैं। ज्ञान किसीसे लिप्त नहीं होता।

अनुकूलता-प्रतिकूलताके समय भी स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता, क्योंकि जिसको सुख-दुःखका ज्ञान होता है, उसमें सुख-दुःख नहीं हैं। ज्ञानमें कोई फर्क नहीं पड़ता। जब ज्ञानमें कोई फर्क नहीं पड़ता, तो फिर ज्ञातामें कैसे फर्क पड़ेगा? सुख-दुःख आने-जानेवाले हैं, स्वयं आने-जानेवाला नहीं है। स्वयं सुख-दुःखको प्रकाशित करनेवाला है।

आप स्वयंमें स्थित रहते हुए ही प्रकृतिमें स्थित होते हैं। प्रकृतिस्थ होनेपर भी स्वयंमें स्थिति रहती ही है।

*** *** ***

भगवान्‌ने सृष्टिकी रचना जीवोंके लिये की है, क्योंकि जीव भोग चाहते हैं, जैसे पिता बालकके लिये खिलौना खरीदकर देता है। सृष्टिकी रचना मनुष्योंके लिये और मनुष्योंकी रचना अपने लिये की है।

शास्त्रोंमें ज्ञानयोगकी जैसी प्रणाली है, वैसी प्रणाली गीताके ज्ञानयोगकी नहीं है। गीताका ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—तीनों ही विचित्र हैं।

*** *** ***

जो वस्तु कहीं है और कहीं नहीं है, वह कहीं भी नहीं है, किसी जगह भी नहीं है—केवल इस बातसे तत्त्वज्ञान हो सकता है।

द्रष्टा दृश्यकी जातिका होता है। यदि दृश्य नहीं है तो द्रष्टा भी नहीं है।

जो नहीं होता, वही मिटता है। जो होता है, वही मिलता है। आँख और रूप एक ही हैं, तभी आँखको रूपका ज्ञान होता है। कानको रूपका ज्ञान नहीं होता। ऐसे ही जिसका भान होता है और जिसको भान होता है—दोनों एक जातिके हैं। भान तभी होता है, जब मनुष्य भास होनेवाली वस्तुसे मिलता है। जैसे, जब हम आँखसे मिलते हैं, तभी रूप दीखता है। आँख-कानसे मिले बिना हम न देखते हैं, न सुनते हैं। जाननेमात्र (ज्ञप्तिमात्र)-में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तीनों ही नहीं हैं। जाननामात्र हमारा स्वरूप है।

सत् असत्‌का विरोधी नहीं है। अतः सत्ता असत्‌का अभाव नहीं करती। सत्ताकी जिज्ञासा ही असत्‌का अभाव करती है।

*** *** ***

जो कहीं है, कहीं नहीं है, वह कहीं भी नहीं है—यह तात्त्विक बात है। जो किसी जगह नहीं है, उसका कहीं भाव दीखते हुए भी अभाव ही है। तात्पर्य यह कि एक परमात्मतत्त्व ही है, संसार है ही नहीं। असत्‌की सत्ता है ही नहीं। मनुष्य असत्‌से ही मुक्त होता है। जब असत् है ही नहीं तो फिर मुक्ति स्वतःसिद्ध है। मात्र संसारका वियोग नित्य है तथा परमात्माका योग नित्य है, अतः जीवन्मुक्ति स्वतः है।

सब कुछ परमात्मा ही हैं, उनके सिवाय कुछ नहीं है—यह केवल सावधानी रखनी है।

यह साधन है। इसमें कोई अपात्र, अयोग्य, कमजोर, अनाधिकारी नहीं है। इन्द्रियोंसे जो कुछ ग्रहण हो, वही परमात्मा हैं। जो स्फुरण हो, जो याद आये, वही परमात्मा हैं। केवल यह सावधानी रखना ही साधना है। बादमें सावधानी भी नहीं रखनी पड़ेगी।

कुछ नहीं करना है, केवल सावधान रहना है। फिर यह सावधानी भी स्वाभाविक रहेगी।

सुख लेना पाप है, सुख देना पुण्य है। सुख लेना बन्धन है, सुख देना मुक्ति है। सुख लेना पतनका कारण है। साधकमात्रके लिये पहली खास बात है कि सुख लेना नहीं है। सुखकी इच्छासे मिलेगा कुछ नहीं, केवल दु:ख मिलेगा। लेनेकी इच्छा ही दु:खों और पापोंकी जड़ है। **सम्पूर्ण साधकोंके लिये सुख लेना त्याज्य है, चाहे वह किसी मार्गका हो।**

*** *** ***

भगवान् मनुष्यको कभी चेला नहीं बनाते, प्रत्युत मित्र बनाते हैं। राम, कृष्ण आदि किसीके चरित्रमें देख लो। भगवान्‌ने सिद्ध (निषादराज), साधक (विभीषण) और विषयी (सुग्रीव)—तीनोंको अपना मित्र बनाया है। उपनिषद्‌में भी जीव और परमात्मा—दोनोंको परस्पर मित्र बताया है—**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** (मुण्डक० ३।१।१; श्वेताश्वतर० ४।६)।

*** *** ***

जो आपका त्याग कर रहा है, उसीका त्याग करना है। जो आपसे प्रेम करता है, उसीसे प्रेम करना है। संसार आपका त्याग कर रहा है। परमात्मा आपसे प्रेम कर रहे हैं। जो निरन्तर बदलता है, उसपर क्या भरोसा? परमात्मा क्षणभर भी आपका त्याग नहीं करते, कर सकते ही नहीं।

मनुष्यशरीर अपने कल्याणके लिये ही मिला है, भोग और संग्रहके लिये नहीं। **मनुष्य भूल जाता है तो महात्मालोग इसकी याद दिलाते हैं।**

मनुष्यशरीरमें दो बातें खास हैं—भगवान्‌को याद रखना और दूसरोंकी सेवा करना। जिसमें दो बातें नहीं हैं, उसमें मनुष्यता नहीं है। अभिमान और स्वार्थबुद्धि ही मनुष्यका पतन करती है।

जब कभी जीवका कल्याण होगा, भगवान्‌की कृपासे होगा।

*** *** ***

मुक्ति और प्रेम स्वत:स्वाभाविक है। संसार अस्वाभाविक है। जो स्वाभाविक है, उसीको प्राप्त करना है। जन्म-मरण स्वाभाविक नहीं हैं। जन्म-मरण गुणोंके संगसे होते हैं—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३।२१)। आप गुणोंसे रहित हैं—**'निर्गुणत्वात्'** (गीता १३।३१)

आप संसारको मानते हैं, इसलिये आपकी भाषासे कहा जाता है कि संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। वास्तवमें संसार है ही नहीं। वियोग उसीका होगा, जो है नहीं। जो है, उसका वियोग कैसे होगा? प्रेम और ज्ञान आपका स्वरूप है। जो नहीं है, वह टिके कैसे? जो है, वह मिटे कैसे?

श्रोता—परमात्मप्राप्तिको शास्त्रोंने कठिन क्यों बताया है?

स्वामीजी—मनुष्योंको सुगमतासे प्राप्ति नहीं हो रही है, इसलिये कठिन बता दिया। सुगम आप मानो, तब होगा। आपको सुगम माननेमें लाभ है या कठिन माननेमें? जिसमें लाभ दीखे, वह बात मानो।

खराब वातावरणमें मनुष्य तभी रहता है, जब वह कुछ-न-कुछ ठीक समझता है, उसमें रस लेता है। सर्वथा बेठीक समझे तो वहाँ वह टिक सकता ही नहीं।

*** *** ***

भगवान्‌की कथा सब सुनते हैं, पर भक्तोंकी कथा भगवान् सुनते हैं—***'भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥'*** (मानस, अयोध्या० २१८।४)

'अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥' (मानस, उत्तर० ४।२)—यहाँ **'कोउ कोऊ'** से यह अर्थ भी ले सकते हैं कि इसे कौआ (काकभुशुण्डि) ही जानता है।

*** *** ***

असली साधन वह होता है, जो भीतरसे प्रकट होता है, ऊपरसे भरा नहीं होता। आप सच्चे हृदयसे भगवान्‌की तरफ चलो तो फिर आपको सांसारिक वस्तुओंकी गरज नहीं करनी पड़ेगी, प्रत्युत वस्तुएँ ही आपकी गरज करेंगी।

त्यागके समान कोई अनुष्ठान नहीं है। त्याग कामनाका करना है। घर छोड़ना दूर रहा, शरीर भी छोड़ दो तो यह त्याग नहीं है।

शरीरके गुलाम बनकर क्यों रहते हो, मालिक बनकर रहो। अन्न-जल लेते हुए भी मर जाते हैं, फिर अन्न-जलकी गरज क्यों करते हो? आप परमात्माके अंश हो। आपको परमात्माकी आवश्यकता है।

कामना न रखनेसे वस्तु आपकी गरज करेगी। **कामना, ममता, आसक्ति न रखनेसे नया प्रारब्ध बन जाता है।**

*** *** ***

जन्मना और मरना—यह हमारा जीवन नहीं है। यह शरीरका जीवन है। हम सदा रहनेवाले हैं। हमारी आयु अनादि-अनन्त है। हमारी दृष्टि स्वयंपर रहनी चाहिये, शरीरपर नहीं। वस्तुएँ कितने दिनकी हैं? ये तो प्रतिक्षण नष्ट हो रही हैं। एक क्षण भी स्थिर नहीं है।

आवश्यकता उसकी होती है, जो 'है' और इच्छा उसकी होती है, जो 'नहीं' है। सभी इच्छाएँ पूरी हो जायँ—यह कोई नियम नहीं है। जबतक संसारकी इच्छा है, तबतक परमात्माकी इच्छा (आवश्यकता) पूरी नहीं होगी।

*** *** ***

साधकके लिये पहला काम है—सांसारिक रागका त्याग। संसारका आकर्षण परमात्मप्राप्तिमें बाधक है। आकर्षण परमात्मामें होना चाहिये। त्यागका अर्थ है—कोई भी क्रिया रागपूर्वक न करे। भोजन भी भूखरूपी रोगको मिटानेके लिये औषधरूपसे करें। निर्वाहमात्र करे, भोग नहीं। अन्यथा साधनकी सिद्धि नहीं होगी। **साधक जितना कर सके, उतना साधन करना काफी है। नया करनेकी जरूरत नहीं।**

दूसरी बात, साधकके द्वारा किसीको कष्ट न पहुँचे। आपके पास जो धन, योग्यता, अधिकार, विद्या आदि है, उसके द्वारा दूसरोंकी सेवा करके उसका टैक्स चुकाना है।

मेरेको मिल जाय—यह भोग है। दूसरोंको मिल जाय—यह योग है। सबके हितमें रति होनी चाहिये। सब सुखी हों या न हों, पर 'सब सुखी हो जायँ'—ऐसे भाववाला सुखी हो ही जायगा।

संसारका सुख ठहरता नहीं, क्योंकि वह आपका नहीं है।

*** *** ***

साधक वह होता है, जो निरन्तर साधन करता है। श्रेष्ठ साधक तो वह है, जो साधन करता ही नहीं, प्रत्युत जिसके द्वारा साधन होता है। उसके लिये भगवान्‌ने कहा है—'**तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः**' (गीता ८।१४) 'उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

यदि शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़ें तो न कामना पैदा होगी, न आवश्यकता। नाशवान्‌को स्वीकार करनेसे ही इच्छा और आवश्यकता पैदा होती है।

आपने नियम ले लिया है कि संसारको छोड़ेंगे नहीं, तो भगवान्‌ने भी नियम ले लिया है कि सांसारिक सुखको टिकने देंगे नहीं!

श्रोता—साधन निरन्तर कैसे हो?

स्वामीजी—जब साधक अपने-आपको भगवान्‌को समर्पित कर देता है, भगवान्‌का ही हो जाता है, तब साधन निरन्तर होता है।

*** *** ***

अपनी निर्बलताका दुःख हो और भगवान्‌की कृपा, महिमापर विश्वास हो तो हम जिस दुर्गुणको हटाना चाहते हैं, वह हट जायगा और जिस सद्‌गुणको लाना चाहते हैं, वह आ जायगा।

सब दुर्गुण सुख-लोलुपतापर टिके हुए हैं। सुखासक्ति न हो तो सब दोष मिट जायँगे। मूलमें एक ही दोष है—नाशवान्‌की तरफ आकर्षण। मूलमें एक ही गुण है—अविनाशीकी तरफ आकर्षण।

सभी सुख परतन्त्रतासे होते हैं। पराधीनताके बिना संयोगजन्य सुख होता ही नहीं।

भगवान्‌को याद नहीं करे तो मनुष्यतामें कमी है। दूसरोंकी सेवा नहीं करे तो मनुष्यतामें कमी है।

*** *** ***

'करना' हमारे हाथमें है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' (गीता २।४७)। 'होना' भगवान्‌के हाथमें है—***'होइहि सोइ जो राम रचि राखा'*** (मानस, बाल० ५२।४)। अतः होनेके विषयमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह भगवान्‌के हाथमें है। हमारे मनके अनुकूल हो या प्रतिकूल, जो होगा वह ठीक ही होगा—हमारे कल्याणके लिये होगा। हानि, अपमान आदि जो होगा, ठीक होगा। चिन्ता हो तो भगवान्‌को पुकारो। भगवान्‌का स्मरण समस्त विपत्तियोंको दूर करनेवाला है—'**हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्**' (श्रीमद्भा० ८।१०।५५)।

*** *** ***

भगवान्‌के समान हमारा परम हितैषी दूसरा कोई है नहीं, हो सकता नहीं। दूसरे नम्बरमें उनके भक्त हैं। भक्त हितैषी तो हैं, पर सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ नहीं हैं। परन्तु भगवान् परम हितैषी, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ तीनों हैं।

जैसे वैद्य जो दवा दे, वही हमारे लिये बढ़िया है। ऐसे ही भगवान् जो विधान करें, वही हमारे लिये बढ़िया है। चाहे अनुकूलता आये या प्रतिकूलता, वह हमारे लिये साधन-सामग्री है।

*** *** ***

भलाई करना और बुराई न करना—दोनों ही साधन हैं, पर दोनोंमें बुराई न करनेका अधिक महत्त्व है। भलाई करनेमें तो परतन्त्रता है, पर बुराई न करनेमें क्या परतन्त्रता? भलाई करनेमें वस्तुओंकी

जरूरत होगी, वस्तुओंका महत्त्व होगा। त्यागकी जो महिमा है, वह दानकी नहीं हो सकती। परमात्मतत्त्वको पैदा नहीं करना है, केवल बुराईका त्याग करना है। एक सेठने साधु-सेवाके लिये एक लाख रुपये खर्च कर दिये, और एक साधुने कौड़ी चीज भी नहीं ली तो महिमा उस साधुकी होगी। उसका लोगोंपर असर पड़ेगा।

सम्पूर्ण प्राणियोंका हित त्यागसे होगा, पदार्थोंसे नहीं। कल्याण जड़ताके त्यागसे ही होगा। दान करनेमें सुपात्र-कुपात्र देखना पड़ेगा, पर त्यागमें क्या करना पड़ेगा?

*** *** ***

हमें यह विचार करना है कि अपना कौन है? शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध माना हुआ है और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध वास्तविक है। अभेदभावका सम्बन्ध (अहंता) और भेदभावका सम्बन्ध (ममता)—दोनों ही माने हुए हैं। शरीरकी संसारके साथ एकता है—यह खास बात है। अतः विचार करें, शरीरपर आपका वश चलता है क्या? प्रयत्न करनेपर भी मन वशमें होता है क्या? होता भी है तो थोड़ी देरके लिये। समाधि भी सदा नहीं रहती। उससे भी व्युत्थान होता है।

हम भगवान्‌के हैं, पर संसार प्यारा लगता है तो यह व्यभिचार-दोष है। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुको अपना मानना ही व्यभिचार-दोष है, कुसंग है।

अपनापन पुण्यको खा जाता है। परिवारमें अपनापन होता है, इसलिये उसकी सेवासे पुण्य नहीं होता। अपनापन न रखकर सेवा करनेसे बड़ा पुण्य होता है।

स्वार्थके कारण खुद खानेमें आनन्द आता है। स्वार्थ न रहे तो दूसरोंको खिलानेमें आनन्द आता है।

*** *** ***

हमारेपर भगवान्‌का प्रभाव पड़ जाय—यह साधन है। संसारका, भोगोंका प्रभाव पड़ जाय—यह असाधन है।

बार-बार विचार करके फिर छोड़ देनेसे स्वभाव बिगड़ जाता है, जिससे साधनमें दृढ़ता नहीं रहती। सांसारिक कार्यमें आपका जो स्वभाव बना हुआ है वही स्वभाव पारमार्थिक मार्गमें भी काम करेगा।

नाशवान् चीज अपने पास पड़ी है—यह वहम् है, और वह जा रही है—यह सच्ची बात है।

मनुष्य अपने लिये जितनी अधिक आवश्यकता पैदा करता है, उतना ही वह परतन्त्र हो जाता है।

*** *** ***

जबतक बुद्धि स्थिर नहीं होती, तबतक मन स्थिर नहीं होता। हमें केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है—यह बुद्धिकी स्थिरता है। तात्पर्य है कि अपने जीवनका एक निश्चय कर ले। चाहे कुछ भी हो जाय, हमें तो परमात्माको प्राप्त करना है। हमें लेना कुछ है ही नहीं। आजकल साधकोंमें यही एक कमी है कि एक निश्चय नहीं होता। इसलिये वह कभी साधक होता है, कभी संसारी।

त्याग मुख्य है। **त्याग किये बिना मनुष्य साधक नहीं होता।** त्याग करना है रागका। हमें भोगबुद्धिसे किसी भी चीजका सेवन नहीं करना है।

माँगनेकी चीज भगवान्‌की भक्ति है। इसके सिवाय और कोई चीज माँगनेकी नहीं है। भक्ति

है—अपने-आपको देना।

परमात्मा हमसे दूर नहीं हुए हैं, हम ही परमात्मासे दूर हुए हैं। हम तो भगवान्‌को प्रिय लगते ही हैं, हमें भगवान् प्रिय लगने चाहिये।

*** *** ***

हम यहाँ रहनेवाले नहीं हैं। हम यहाँ आये हैं और जाना है। जैसे धर्मशालामें ठहरते हैं, वैसे ही यहाँ अपनेको मानना चाहिये। यह शरीर भी अपना नहीं है, फिर दूसरा कौन अपना है? भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई अपना है नहीं। **केवल भगवान् ही हमारे हैं—यही पहली बात है, यही अन्तिम बात है, यही सार बात है।**

*** *** ***

ज्ञानमार्ग तो कर्मयोगके अधीन है, पर भक्तिमार्ग ज्ञानयोगके अधीन नहीं है। ज्ञान और वैराग्य तो भक्तिके बेटे हैं। भक्तियोग स्वतन्त्र है।

भक्तिमार्गमें देहाध्यास मिटानेकी जरूरत नहीं है। आप शरीरसहित ही भगवान्‌के शरण हो जाओ कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। उपासना और उपास्य एक जातिके हों तो उपासना जल्दी सिद्ध होती है। आप अपनेको साकार मानते हैं तो साकारकी उपासना सुगम होगी।

अपनेको सर्वथा असमर्थ समझकर भगवान्‌की सामर्थ्यपर विश्वास हो जाय तो भक्ति अपने-आप होती है।

तत्त्वज्ञान होनेसे भगवान्‌पर विश्वास हो ही जायगा—यह नियम नहीं है। कंस और हिरण्यकशिपु ज्ञानकी बातें बहुत जानते थे, पर साकार भगवान्‌से बैर रखते थे।

भक्तिमें ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। ज्ञान विवेकमार्ग है और भक्ति विश्वासमार्ग है। विश्वास अनजान व्यक्ति करता है। देहाभ्यास मिटनेपर ज्ञान होगा, भक्ति नहीं। तत्त्वज्ञान होनेपर भी भक्ति हो जाय—यह नियम नहीं है। इसलिये भगवान्‌पर विश्वास न होनेपर भी जैनियोंकी मुक्ति होती है।

ज्ञानमार्गमें संसारका त्याग होता है और भक्तिमार्गमें भगवान्‌से प्रेम होता है—यह खास बात है। 'ज्ञान' नाशवान्‌से सम्बन्ध-विच्छेद करता है और 'भक्ति' अविनाशीसे सम्बन्ध करती है। कर्मयोग व ज्ञानयोगसे त्याग होता है और भक्तियोगसे अनुराग होता है। यह उनका खास काम है।

भक्ति विवेकसे नहीं होती, प्रत्युत विश्वाससे होती है। धनुर्दास और बिल्वमंगलका वेश्यामें देहाध्यास था, पर वे भी भक्त हो गये। बालककी माँपर भक्ति होती है, वह माँके बिना रह नहीं सकता, पर क्या उसे ज्ञान हो गया? भक्त प्रयागदासजीने सीताको बहन मान लिया तो क्या बहन माननेके लिये देहाध्यास मिटानेकी जरूरत पड़ी? बालकने माँको नहीं देखा (जाना), पर माँके विश्वासमें, माँको अपना माननेमें कोई कमी नहीं होती।

भक्ति चाहते हो तो भक्तोंके चरित्र पढ़ो।

भक्तकी दृष्टि भगवान्‌पर ही रहती है, अपनी तरफ नहीं। मैं कैसा हूँ, जड़ हूँ या चेतन हूँ, शरीरसहित (आत्मा) हूँ—इस तरफ उसकी दृष्टि नहीं रहती। खास बात है कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं।

भगवान् जो रूप धारण करते हैं, उसी रूपके अनुसार लीला करते हैं, वे मूर्ति बनते हैं तो मूर्तिके अनुसार ही लीला करते हैं, चलते-फिरते नहीं, अन्यथा स्वाँग बिगड़ता है।

*** *** ***

जबतक स्वयं भगवान्‌में न लगे, तबतक निरन्तर भजन नहीं होता। स्वयं निरन्तर रहता है। मन-बुद्धि लगानेसे निरन्तर साधन नहीं होता।

'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं विवाहित हूँ'—इसको कभी याद करते ही नहीं, पर इसको कभी भूलते भी नहीं, इस तरह 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह भाव रहना चाहिये।

स्त्रीके साथ सम्बन्ध जोड़ोगे तो वह सदा नहीं रहेगा, अगले जन्ममें पुनः विवाह करना पड़ेगा। परन्तु भगवान्‌का सम्बन्ध सदा रहेगा।

अगर कोई सच्चे हृदयसे (भीतरसे) साधु बन जाय तो वह कभी निषिद्ध कार्य नहीं कर सकता कि मैं तो साधु हूँ, यह काम कैसे कर सकता हूँ?

*** *** ***

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि परमात्माकी दी हुई चीज तो अच्छी लगती है, पर परमात्मा स्वयं अच्छे नहीं लगते!

जैसे बालक गेंद दीवारपर फेंकता है वापस लेनेके लिये, ऐसे ही भगवान् जीवको संसारमें भेजते हैं अपनी तरफ लानेके लिये।

*** *** ***

मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह भोगके आरम्भकालको तो याद रखता है, पर अन्तकाल (अरुचि)-को याद नहीं रखता। प्रत्येक सुखभोगके अन्तमें अरुचि होती ही है। भोगके आरम्भमें जो सुख मिलता है, वह अन्तमें नहीं रहता **'परिणामे विषमिव'** (गीता १२।३८)। जैसा आरम्भमें रहता है, वैसा अन्तमें भी रहे—ऐसा कोई सुख संसारमें है ही नहीं। यदि आप सुखके परिणामको पकड़ो तो निहाल हो जाओगे। अरुचिको याद नहीं रखोगे तो चेत कैसे होगा?

पारमार्थिक मार्गमें अरुचि होती ही नहीं—***'राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥'*** (मानस, उत्तर० ५३।१)

मनुष्य वही है, जो परिणामको देखे। वर्तमानमें दृष्टि तो पशुओंकी होती है। जो देखा, वही खा लिया।

*** *** ***

सबसे श्रेष्ठ भाव 'माधुर्यभाव' है। माधुर्यभावमें स्त्री-पुरुष नहीं हैं, प्रत्युत भक्त और भगवान् हैं। इसमें परकीया भावको श्रेष्ठ बतानेमें चार कारण हैं—१. अपने जीवन-निर्वाहके लिये, अपने बालकोंके पालन-पोषणके लिये प्रेमास्पदसे कुछ नहीं चाहती, २. केवल प्रेमास्पदको सुख देती है, ३. अपने प्रेमको छिपाकर रखती है और ४. वियोगमें प्रेमास्पदको विशेष याद करती है।

गोपियोंमें माधुर्यभाव था। पुरुष केवल परमात्मा ही हैं, शेष सब स्त्रियाँ हैं।

जहाँ माधुर्य होता है, वहाँ ऐश्वर्य नहीं होता। माधुर्यमें केवल अपनापन रहता है, जैसा बाल-गोपालोंमें था। वहाँ ऐश्वर्यकी स्मृति नहीं है।

दास्य, सख्य आदि भावोंमें भी माधुर्यभाव रहता है।

*** *** ***

पारमार्थिक मार्गमें विवेक-विश्वास मुख्य हैं, क्रिया और अभ्यास मुख्य नहीं हैं। क्रिया और

पदार्थ प्रकृतिका कार्य है। परमात्मा इनसे अतीत हैं।

मनुष्य बड़ा होता है बड़ोंकी सेवा करनेसे, बड़ोंकी आज्ञा पालन करनेसे।

चरणोंमें तथा हाथोंमें विशेष शक्ति होती है, क्योंकि उनमें रोम नहीं होते। रोम होनेसे शक्ति कीलित हो जाती है। रोम न होनेसे शक्ति सीधे आती है।

भगवान्‌के नाम-जप, ध्यान आदि करनेवाला विद्यार्थी कभी फेल नहीं होता।

*** *** ***

बहतेसे बहता ही मिलेगा, रहता कैसे मिलेगा? अभ्याससे, क्रिया तथा पदार्थसे परमात्मा कैसे मिलेंगे? क्रिया तथा पदार्थसे विमुख हो जायँ तो परमात्मा मिल जायँगे।

वृत्ति वास्तवमें परमात्मामें ही रहती है, पर उसका मुख संसारकी तरफ रहता है।

जो कण-कणमें परिपूर्ण है, वह परमात्मा अप्राप्त कैसे? नित्य प्राप्तको ही प्राप्त करना है। इसीलिये इसे 'सहजावस्था' कहा गया है।

*** *** ***

साधकसे भूल यह होती है कि वह बन्धनको तो सच्चा मानता है और मुक्तिको कृतिसाध्य मानता है। वास्तवमें बन्धन कृतिसाध्य है, मुक्ति स्वतः-स्वाभाविक है।

जैसे एक छोटी-सी दियासलाईसे लाखों वर्षोंका घना अँधेरा मिट जाता है, मनभर रूई भी जल जाती है, क्योंकि अँधेरा और रूई कच्ची है। ऐसे ही थोड़ी-सी समतासे महान् भय नष्ट हो जाता है—**'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'** (गीता २।४०), क्योंकि समता सच्ची है, भय झूठा है। वास्तवमें समता स्वल्प होते हुए भी 'महान्' है और भय महान् होते हुए भी 'स्वल्प' है।

जैसे जलनेमें रूई खुद दियासलाईकी सहायता करती है, क्योंकि रूई उसी जातिकी है। ऐसे ही नष्ट होनेमें भयरूप संसार खुद सहायता करता है, क्योंकि संसार वास्तवमें नष्ट हुआ ही है।

*** *** ***

जैसे क्रियाका अन्त होता है, ऐसे त्यागका अन्त नहीं होता। त्यागका फल भी अनन्त होता है।

उल्टी मान्यता यह पड़ी है कि संसारकी सत्ता है और उसे हटाना है, जन्म-मरण तो हैं और उन्हें मिटाना है, परमात्माका पता नहीं कि कहाँ हैं, कहीं होंगे। यह उल्टी मान्यता ही साधकके लिये बाधक है।

भगवान् हर समय सदा मौजूद रहते हैं। कभी मौजूद रहते हैं, कभी मौजूद नहीं रहते—ऐसा नहीं है। फिर उनकी प्राप्तिमें क्या बाधा? बादलोंके कारण आँख ढकती है, सूर्य नहीं। ऐसे ही आपकी बुद्धिमें असत्‌की सत्ता बैठी हुई है, यही बाधक है।

अपने लिये करनेसे सभी दुःखी हो जायँगे और दूसरेके लिये करनेसे सभी सुखी हो जायँगे।

*** *** ***

वास्तवमें गुरुकी प्राप्ति है—न संसारसे सम्बन्ध रहे, न गुरुसे सम्बन्ध रहे। यदि गुरुसे सम्बन्ध जोड़ लिया तो क्या पहले कम सम्बन्ध थे? एक नया सम्बन्ध और जोड़ लिया तो क्या लाभ?

संसारका वियोग नित्य है, परमात्माका योग नित्य है। संसार नदीकी तरह निरन्तर बह रहा है और परमात्मा शिलाकी तरह निरन्तर अचल हैं।

*** *** ***

अभ्यासमें विवेक नहीं है, विवेकमें अभ्यास नहीं है। **विवेकमें विचार काम करता है, अभ्यास काम नहीं करता। अभ्यासमें जड़ताका सहारा लेना पड़ता है, पर विवेकमें जड़ताका त्याग है।** अभ्यासमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्‌की जरूरत है।

जो विचार करते हैं, वह नकली है। जो विचार जाग्रत् होता है, वह असली है। विचारसे विवेक होता है। विवेक स्वत:सिद्ध है। विवेक बुद्धिका विषय नहीं है। यह अनादि है। सत्संगसे विवेक पैदा नहीं होता, प्रत्युत जाग्रत् होता है।

कल्याण निष्कामभावसे होता है, कर्मसे नहीं। तत्त्वबोध होनेपर ऐसा नहीं होता कि मैं पहले अज्ञानी था, अब ज्ञानी हो गया, पहले बद्ध था, अब मुक्त हो गया। केवल वहम् था, वह मिट गया। पहले कण्ठी गलेमें थी, फिर अप्राप्त हो गयी, फिर मिल गयी—तीनों अवस्थाओंमें वस्तुस्थिति ज्यों-की-त्यों रही, केवल वहम् मिट गया।

अभ्यासमें सजातीय चीजें (जड़) होती हैं, पर विवेकमें विजातीय (जड़ और चेतन, सत् और असत्) चीजें होती हैं। अभ्याससे त्याग नहीं होता, पर विवेकसे त्याग होता है।

ज्ञानका अज्ञानसे वैर-विरोध नहीं है। अज्ञान ज्ञानके ही आश्रित रहता है। जिज्ञासा ही अज्ञानकी विरोधी है। रस्सी साँपकी विरोधी नहीं है। रस्सी तो साँपको प्रकाशित कर रही है—सर्प दीखनेमें हेतु हो रही है। रस्सीकी जिज्ञासा साँपकी विरोधी है।

*** *** ***

त्यागकी विशेष महिमा है, क्योंकि असत्‌की सत्ता और महत्ता मानकर ही हम फँसे हैं। हम प्राप्ति चाहते हैं सत्‌की और सहारा लेते हैं असत्‌का। असत्‌के द्वारा परमात्मप्राप्ति नहीं होती। असत्‌का त्याग कर दें तो परमात्मप्राप्तिमें उद्योग, परिश्रम नहीं है।

दार्शनिक दृष्टिसे एक परमात्माके सिवाय कोई नहीं। भक्तिकी दृष्टिसे एक परमात्माके सिवाय कोई अपना नहीं। दोनोंका परिणाम एक है। जैसे—रामायणमें पतिव्रताके लिये आया है—***'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'*** (मानस, अरण्य० ५।६) अर्थात् पतिके सिवाय दूसरा कोई पुरुष नहीं अथवा पतिके सिवाय कोई अपना नहीं। कोई एक बात मान लो।

स्वरूपका चिन्तन करनेकी अपेक्षा परमात्माका चिन्तन करना विशेष है। भगवान्‌ने कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यवेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।७)

'हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

*** *** ***

सबसे सूक्ष्म और सबके मूलमें 'अहम्' है। अहम् बदल जाय तो सब बदल जायगा। अहम् अपरा प्रकृति है। अहम्‌को शुद्ध करनेके लिये यह सत्संग है।

मन-बुद्धिमें बैठी बात भूल जाती है, पर अहम्‌में बैठी बात भूलती नहीं। साधकोंके लिये अहम्‌को बदलना बहुत आवश्यक है। अहम्‌को बदलनेका नाम है—भावशरीर। मैं साधक हूँ, मैं भक्त हूँ—यह भावशरीर है। साधकमें भाव पहले होता है, आकृति पीछे। **भावकी मुख्यता तथा आकृतिकी**

गौणता होनेपर साधन स्वतः होता है।

गुरुका खास काम है—भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ना। **गुरुको चेलेकी याद आये, चेलेको गुरुकी याद आये—यह गुरु या चेला बनना नहीं है। चेला शरीरका नहीं होता, शब्दका होता है—**

जो तू चेला देह को, देह खेह की खान।
जो तू चेला सबदको, सबद ब्रह्म कर मान॥

इसलिये गुरुकी बात माननेसे कल्याण होता है।

*** *** ***

साधनका लोभ नहीं होना चाहिये। परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेसे कोई साधन छोटा नहीं होता।

साधनमें किसी तरहकी बाधा आये तो—'हे नाथ, हे नाथ' पुकारो। बाधा न आये तो भी पुकारते रहो। हठसे साधन करनेसे जल्दी सिद्धि नहीं होती। जो साधन 'होता' है, वह असली है। **जो साधन 'करते' हैं, वह नकली है।**

प्रवृत्ति-निवृत्ति उतनी खराब नहीं है, जितने राग-द्वेष खराब हैं। रागपूर्वक ग्रहण न करे और द्वेषपूर्वक त्याग न करे—यह साधकके लिये बहुत कामकी चीज है।

*** *** ***

सत्संग करते समय अपनेको सामने रखे, दूसरेको नहीं। अपने जीवनको, अपनी वृत्तियोंको, अपने आचरणोंको देखे। दूसरेको सामने रखना सत्संगमें कुसंग है। क्रोध तो लोमश ऋषिको भी आ गया—ऐसी बातें सत्संगमें कुसंग है।

मेरी बात नहीं मानी—इसको लेकर क्रोध आना दोषी है। यह क्रोध कामनाके कारण है—**'कामात्क्रोधोऽभिजायते'** (गीता २।६२)। परन्तु दूसरेके हितके लिये क्रोध आना दोषी नहीं है, प्रत्युत यह तो हितैषिता है। लोमष ऋषिको हितैषिताके कारण क्रोध आया कि मैं तो इसके हितकी बात कहता हूँ, पर यह सुनता नहीं। यशोदा मैयाको कन्हैयापर क्रोध आया उसके हितके लिये कि मिट्टी खानेसे इसका पेट खराब हो जायगा। दूसरेके हितके लिये किया गया ऐसा क्रोध भी वरदानकी तरह कल्याणकारक होता है—**'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'**।

शास्त्रोंको समझना हो तो अच्छे जानकार पुरुषोंसे समझें। **हमारे भीतर राग-द्वेष होंगे तो शास्त्रोंमें भी हमें वैसा ही दीखेगा।**

काम-क्रोधादि दोष विरोध करनेसे जल्दी नहीं छूटते, प्रत्युत उपेक्षा करनेसे छूटते हैं। अतः उनकी परवाह न करके नामजप करते रहो और 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारते रहो। वे आ जायँ तो परवाह नहीं, पर नामजप और पुकार न छूटे। विरोध करनेसे सत्ता दृढ़ होती है। विरोध करना उनको सत्ता देना है।

*** *** ***

व्याकुलता होनेसे विवेक शुद्ध होता है और विवेक शुद्ध होनेसे व्याकुलता बढ़ती है। दोनों एक-दूसरेके सहायक हैं। व्याकुलतासे जल्दी काम बनता है।

व्यक्तिकी सेवा करो तो यह समझकर करो कि भगवान् ही इस रूपमें मेरे सामने आये हैं।

इससे व्यक्ति लुप्त हो जायगा और भगवान् प्रकट हो जायँगे।

नाम-जप करनेकी अपेक्षा नाम लिखना ज्यादा बढ़िया है। कारण कि लिखनेमें मन ज्यादा लगता है। जितना ज्यादा मन लगता है, उतनी ही उपासना तेज होती है।

सत्संगसे अमूल्य बातें मिलती हैं और नामजप तथा प्रार्थनासे उन बातोंको धारण करनेकी शक्ति आती है। अतः सत्संग और नाम-जप—दोनों करने चाहिये।

*** *** ***

पापोंसे भी ज्यादा पतन करनेवाली चीज है—पापोंकी रुचि। यह रुचि पापका बीज है।

कल्याणके उपाय (साधन)-में वह ताकत नहीं है, जो ताकत आपकी लगनमें है।

मूर्तिपूजा आदि जो पहले करते रहे हैं, सिद्धि (तत्त्वज्ञान) होनेके बाद भी वैसे ही करते रहना चाहिये।

सच्चे महात्माओंके भीतर सबके उद्धारकी भूख होती है, चेला बनानेकी भूख नहीं होती। वे दूसरोंको भी गुरु ही बनाते हैं।

सच्चा जिज्ञासु कहीं अटक नहीं सकता। अटक जाय तो सच्ची लगन नहीं है।

*** *** ***

अपने-आप उत्पन्न हुई स्फुरणाके साथ जबतक हम मिल नहीं जाते, तबतक उससे हमारा कोई नुकसान नहीं होता। उससे सम्बन्ध न जोड़े, उसे अपना न समझे तो कोई हानि नहीं। अपने-आप होनेवाली स्फुरणाकी उपेक्षा करो, विरोध मत करो। विरोध करनेसे, उसे हटानेकी चेष्टा करनेसे एक नया संकल्प, नयी वृत्ति पैदा होगी। उससे न राग करें, न द्वेष। राग-द्वेष करनेसे नयी आफत पैदा हो जायगी।

उत्पन्न होनेवाली चीजसे डरें नहीं, प्रत्युत उसकी उपेक्षा करें, क्योंकि वह अपने-आप नष्ट हो जायगी। उससे तटस्थ रहे, उदासीन रहे। दूर करनेकी चेष्टा करनेसे उसकी सत्ता दृढ़ होती है। दलदलसे ज्यों निकलनेकी चेष्टा करेंगे, त्यों और फँसेंगे।

भोग और संग्रहकी लगन छोड़नेसे भगवान्‌की लगन लगेगी। भोग और संग्रहका त्याग तो सबको करना ही पड़ेगा। कर्मयोगमें दूसरेकी सेवा करनेसे अपने सुख-आरामका त्याग सुगमतासे हो जाता है। इसलिये ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग सुगम पड़ता है।

*** *** ***

अनुकूलतामें भगवान्‌की 'दया' होती है और प्रतिकूलतामें 'कृपा' होती है। **मनुष्य कृपासे जितना शुद्ध होता है, उतना दयासे नहीं। कृपासे मनुष्य समर्थ बनता है। प्रतिकूलतामें विशेष कृपा होती है, उसे दूर करनेके लिये प्रार्थनाकी जरूरत नहीं।** प्रतिकूलतामें ज्यादा लाभ होता है।

प्रेम जितना गुप्त रहता है, उतना ही बढ़िया होता है। तभी परकीया भावको श्रेष्ठ कहा गया है।

भगवान्‌की सब लीला भक्तके लिये ही है, अपने लिये नहीं।

सुख अच्छा लगता है, पर उसका परिणाम अच्छा नहीं है। दुःख बुरा लगता है, पर उसका परिणाम अच्छा है।

*** *** ***

आजसे यह नियम, व्रत लें कि मैं किसीको भी बुरा नहीं समझूँगा। स्वरूप अमल है—***'ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी'*** (मानस, उत्तर० ११७।१)। जो अमल है, उसे दोषयुक्त मानना उसका अपराध है। परमात्माका अंश निर्दोष है। **इसलिये मनुष्यका जीवन सर्वथा निर्दोष तो हो सकता है, पर सर्वथा दोषी नहीं हो सकता।** कोई भी दोष नित्य-निरन्तर हो ही नहीं सकता।

क्या आपके मनमें यह आता है कि कोई मुझे बुरा समझे? यदि नहीं आता तो किसीको बुरा समझनेका आपको अधिकार नहीं है। **किसीको भी बुरा न समझना, बुरा न चाहना और बुरा न करना 'अभयदान' है।** अभयदान सब दानोंसे बढ़कर है।

किसीको बुरा न समझनेसे भलाई भीतरसे प्रकट होती है। ऊपरसे भरी हुई भलाई अनित्य होती है। भीतरसे प्रकट हुई भलाई नित्य होती है।

*** *** ***

अपना वही है, जो कल्याणमें लगा दें। बचपनमें जैसे संस्कार पड़ते हैं, वैसे बड़ी उम्रमें नहीं पड़ते। इसलिये बालकोंको बचपनसे ही सत्संगमें, भगवद्भजनमें लगाना चाहिये।

किसीको भगवान्‌में लगानेके समान कोई पुण्य नहीं है।

भगवान्‌ने अर्जुनसे मानो यह कहा कि मैं तो भक्तिकी बात कहूँगा यदि मेरी बात पसन्द न हो तो तू ज्ञानियोंके पास जा, वे तुझे ज्ञानका उपदेश देंगे*। पर अर्जुन गये नहीं।

*** *** ***

परमात्माकी प्राप्तिमें 'साधन' कामका नहीं है, 'लगन' कामकी है। कारण कि परमात्माकी प्राप्ति लगनसे होती है, साधनसे नहीं। क्रियाओंसे वस्तु खरीदी जाती है। परमात्मतत्त्व क्रिया, वस्तु और व्यक्तिसे अतीत है।

संसारकी वस्तु खरीदी जाती है, पर भगवान् खरीदे नहीं जाते। भगवान्‌को केवल लगन चाहिये। लगनके सिवाय और कुछ नहीं चाहिये। भगवान् सत्यस्वरूप हैं, इसलिये उनकी लगन भी सत्य चाहिये। वह लगन लगेगी संसारकी लगन छूटनेसे। रात-दिन नामजप करें। भगवान् और उनके भक्तोंके चरित्र पढ़ें, कीर्तन करें और भगवान्‌से लगन माँगें तो लगन लग जायगी। लगन भगवान्‌से मिलती है।

ग्राहक कम होते हैं तो वस्तु सस्ती हो जाती है। आजकल भगवान्‌के ग्राहक कम हैं, इसलिये भगवान् आजकल सस्ते हैं।

*** *** ***

भोगोंकी इच्छा मनुष्यको भगवान्‌में लगने नहीं देती। भोगोंकी इच्छा अपनेसे दूर न हो तो भगवान्‌से प्रार्थना करो।

परमात्मप्राप्तिके बिना चैनसे रहते हो—यही बाधा है। बार-बार विचार करो कि परमात्मप्राप्तिके सिवाय और काम क्या है? कैसे प्राप्ति हो?

स्वरूपकी प्राप्तिमें जिज्ञासा मुख्य है और ईश्वरकी प्राप्तिमें विश्वास मुख्य है।

---

* **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता ४।३४)

'मैं हूँ'—यह अहंकार है। इसीने सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रखा है। **'हूँ' को छोड़कर 'है' के अर्पित हो जाओ और 'चुप' हो जाओ।** तात्पर्य है कि 'हूँ' को छोड़कर 'है' में स्थित हो जाओ, जो स्वतः है। आपकी स्थिति निरन्तर 'है' में है। अनन्त ब्रह्माण्ड उस 'है' के अन्तर्गत हैं।

मनमें जो स्फुरणा होती है, संकल्प-विकल्प होते हैं, वे वास्तवमें हैं नहीं। अतः उनकी सत्ता मत मानो। उनको न अच्छा समझो, न बुरा। उनका अपनेमें मत मानो। इसमें भविष्य नहीं है। यह वर्तमानकी वस्तु है। अपनेमें नहीं है—ऐसा माननेसे वे टिकेंगे नहीं। **चेतनके बिना केवल जड़में रहनेकी ताकत नहीं है।**

पुराने अभ्याससे पहलेवाली वृत्ति आती है। **वृत्ति अच्छी हो या बुरी, वह अपनेमें नहीं है।** भागवतमें आया है—

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥

(श्रीमद्भा० ११।२८।४)

'संसारकी सब वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं और मनसे सोची जा सकती हैं, अतः वे सब असत्य हैं। जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं हैं तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा?'

*** *** ***

पारमार्थिक मार्गपर चलनेसे विघ्न भी हमारी सहायता करते हैं। दुष्टोंकी दुष्टता भी सहायता करती है। वृन्दावन आदि धामोंमें साधन करनेसे धाम भी सहायता करते हैं। वहाँका वायुमण्डल भी सहायता करता है। अपने साधनसे विरुद्ध बातका त्याग करते रहें। **सच्ची बातका आदर करें, भले ही वह सीखी हुई हों। उसकी उपेक्षा मत करें।**

सत्संगकी बातें धारण न करनेसे ही बहुत-सी बातें दीखती हैं। धारण कर लें तो थोड़ी, गिनी-चुनी बातें हैं। केवल कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग ही तो है।

निःसंदिग्ध व्यक्तिके वचनोंमें बल होता है। अतः जिस विषयका विवेचन करें, उस विषयमें खुद निःसंदिग्ध होना चाहिये। प्रमाद न हो, कुछ लेनेकी इच्छा न हो, कहनेकी युक्ति आती हो—ये गुण वक्तामें होने चाहिये।

*** *** ***

ममता रखनेसे वस्तु दुःखी हो जाती है और ममता न रखनेसे वस्तु प्रसन्न हो जाती हैं। मनको मेरा माननेसे मन अशुद्ध होता है, इसलिये भगवान् कहते हैं—**'मय्येव मन आधत्स्व'** (गीता १२।८)। मनको अपना न मानकर भगवान्‌का मानें।

सन्त-महात्माओंकी शरीरमें ममता नहीं होती, इसलिये उनके दर्शनसे लाभ होता है। जिस वस्तुमें ममता नहीं होती, वह वस्तु शुद्ध हो जाती है।

*** *** ***

मनुष्यशरीर सबसे दुर्लभ है। इसमें ऐसी सामर्थ्य है, ऐसा अधिकार मिला हुआ है कि यह अपनी, संसारकी और भगवान्‌की—सबकी पूर्ति कर सकता है। अपना तथा संसारका कल्याण कर सकता है और भगवान्‌को प्रसन्न कर सकता है।

जैसे चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यशरीर दुर्लभ है, ऐसे ही मनुष्यशरीरमें सत्संग दुर्लभ है। **भगवान्‌की**

विशेष कृपाकी पहचान है—सत्संग प्राप्त होना। स्वयंज्योतिजी महाराजने कहा था कि जीवन्मुक्त महापुरुषोंके साथ निष्काम प्रेम 'सत्संग' है। वास्तवमें भगवान्‌में प्रियता होना सत्संग है। **भगवान् हमारे हैं—यह असली सत्संग है।** दुर्गुण-दुराचारोंके त्यागका नाम भी सत्संग है।

सच्चर्चाको भी सत्संग कह देते हैं, पर वास्तवमें सत्संग भगवान्‌में प्रेमका नाम है। उनके बिना रहा न जाय। इसलिये सबसे प्रेम ही माँगना चाहिये—***'सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ'*** (मानस, अयोध्या० १२९)।

संत, शास्त्र, सद्‌भाव भगवान्‌का हृदय हैं। विशेष कृपा करके ही भगवान् अपना हृदय देते हैं। **सत्संगसे संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में अनुराग अपने-आप होता है।** सत्संग करनेसे प्रतिकूलता भी आनन्द देनेवाली हो जाती है।

*** *** ***

दो विभाग हैं—'होना' और 'करना'। परिस्थितिका मिलना 'होना'-विभागमें और अपना कल्याण करना 'करना'-विभागमें है।

अविनाशी और विनाशी—दोनोंकी जाति दो है। **दूसरी जातिकी वस्तु हमें कैसे मिल जायगी?** हम अविनाशी हैं, पर चाहते हैं विनाशीको। दूसरी जातिकी वस्तुकी कामना, ममता तथा तादात्म्य कैसे रहेगा? आँखसे देख सकते हैं, पर सुन कैसे लेंगे? कानसे क्या देख लेंगे?

*** *** ***

भगवान्‌के साथ मनुष्य ही खेल सकते हैं। इसलिये भगवान् मनुष्यको सखा ही बनाते हैं, चेला नहीं बनाते। मनुष्यको भगवान्‌ने अपने लिये बनाया है। यह विशेषता हमारी नहीं है, प्रत्युत भगवत्कृपाकी है।

भगवान्‌के समान शिक्षा देनेवाला, समझानेवाला और कोई नहीं है। हरेक घटना, परिस्थितिमें वे हमें समझा रहे हैं।

जिससे साधक मिलना चाहता है, वह मिला हुआ है और जिससे अलग होना चाहता है, वह अलग है। जो अलग है, वह मिलेगा कैसे? साधकका काम केवल वहम् मिटाना है।

पता लगते ही पाप करना छोड़ दो तो पहले किये पाप भी माफ हो जायँगे।

*** *** ***

एक आप हैं और एक आपका स्वभाव है। सत्संग आदि करनेसे स्वभावमें फर्क पड़ता है, तत्त्वमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

जैसे बीज थोड़े होते हैं, पर खेती ज्यादा होती है। ऐसे ही हम दूसरेको दुःख देंगे तो हमें वह कई गुना अधिक होकर मिलेगा।

परिवारमें किसीकी मृत्यु हो जाय तो तीन काम करने चाहिये—१. उसके नामसे नामजप, कीर्तन, रामायण-पाठ, भागवत-पाठ आदि करो, २. छोटे-छोटे गरीब बालकोंको मिठायी दो और ३. उसे भगवान्‌के पास देखो। ऐसा करनेसे आपको भी लाभ होगा और मृतकको भी।

आजकल हरेक व्यक्तिमें स्वार्थभाव बहुत अधिक बढ़ गया है। इसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा।

अपना अथवा दूसरेका कल्याण त्यागसे ही होता है। दूसरोंपर त्यागका अधिक असर पड़ता है, बातोंका नहीं।

हिन्दू संस्कृति सेवाके लिये ही है। स्वार्थभाव छोड़कर सेवा करनेसे बन्धन छूटता है। जितनी सेवा लोगे, उतना ही कर्जा बढ़ेगा। आफत बढ़ेगी। बन्धन स्वार्थमें है। स्वार्थी आदमीको रोना ही पड़ेगा, व्यवहारमें भी और परमार्थमें भी।

*** *** ***

संसारके सुखका त्याग करनेसे ही दुःखका त्याग होगा। हम सुखको नहीं छोड़ेंगे तो दुःख हमें नहीं छोड़ेगा। सुखकी इच्छा करनेवालेके पास सुख टिकता नहीं।

सुखकी इच्छा दुःखीको होती है। दुःख न रहे, आनन्द रहे तो फिर सुखकी इच्छा नहीं होगी। दुःखालय संसारमें सुख कहाँसे मिलेगा? यह शरीर सुख लेनेके लिये है ही नहीं।

यदि रुपयोंके त्यागका अभिमान होता है तो इसमें रुपयोंका ही महत्त्व हुआ। अन्तःकरणमें जिस वस्तुका महत्त्व होता है, उसीके त्यागका अभिमान होता है। क्या मल-मूत्रके त्यागका अभिमान होता है? रुपयोंके त्यागका अभिमान होता है तो वास्तवमें रुपयोंका त्याग हुआ नहीं।

लेनेसे ऋण चढ़ता है और देनेसे ऋण उतरता है। संसारी मनुष्य लेता है तो लेता है, देता है तो भी लेता है। साधक देता है तो देता है, लेता है तो भी देता है। सन्त-महात्मा देते हैं तो भी कृपा करते हैं, लेते हैं तो भी कृपा करते हैं।

*** *** ***

गीताके अध्ययनसे ज्ञान होता है कि भक्त योगभ्रष्ट नहीं होते। करणनिरपेक्ष साधनमें साधक योगभ्रष्ट नहीं होता।

भगवान् कहते हैं कि सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध अर्थात् कर्तव्य कर्म भी कर—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'** (गीता ८।७)। हर समय भगवत्स्मरण करनेमें सत्संग बहुत सहायक है।

अभी आपको जो धन मिलता है, वह प्रारब्धसे मिलता है, झूठ-कपट आदि करनेसे नहीं।

भरत मुनि हरिणीके बच्चेपर दया करनेसे नहीं बँधे, प्रत्युत मोह करनेसे बँधे। दया तो कल्याण करनेवाली है।

अस्पतालमें मरनेवालेकी प्रायः दुर्गति होती है।

*** *** ***

भगवान्‌की प्राप्ति 'लगन' से होती है, किसी 'प्रकार' से नहीं होती। किसी योग्यतासे नहीं होती। लगन है—भगवान्‌के बिना रहा न जाय।

जो दीखे, उसीमें भगवान्‌का दर्शन करें। **भगवान्‌की कमी नहीं है, भगवान्‌को देखनेवालेकी कमी है।** आप भगवान्‌को अपने मनके अनुरूप देखना चाहते हैं तो भगवान् उसी रूपसे दीख जायँगे, पर आपको भगवान्‌के अनुरूप बनना पड़ेगा। आपके पास समय, समझ, सामर्थ्य और सामग्री बाकी न रहे, सब-की-सब भगवान्‌में लगा दें। आपके पास जो है, वही भगवान्‌की कीमत है।

संसारसे कुछ लेनेकी इच्छा होते ही कुसंग शुरू हो जाता है। सेवाके लिये सब मेरे हैं, पर मेरे लिये कोई मेरा नहीं है—ऐसा मान लें और नाम-जप करते रहें। यह मीराबाईका स्वरूप है।

प्रह्लादजीकी तरह एक नामजपमें लग जायँ तो कोई मन्त्र, तन्त्र, मूठ काम नहीं करता।

*** *** ***

भगवान्‌की विशेष कृपासे ही हमें यहाँ सत्संगका मौका मिला है। यह सत्संग ऐसा है, जैसे खारे समुद्रमें अमृतका कुण्ड, मरुप्रदेशमें वर्षा, लंकामें विभीषण। परन्तु प्राप्त होनेके बाद वस्तुकी दुर्लभता दीखती नहीं। ऐसा मौका अपने उद्योगसे मिलना कठिन है।

मेरे देखते-देखते आकाश-पातालका अन्तर हो गया है। आज पहले जैसी वर्षा नहीं होती। पहले जैसे स्त्री-पुरुष नहीं रहे। गंगाजीका जल पहले जैसा नहीं रहा। पहले जितना सत्संग होता था, उतना अब नहीं होता। कलियुगके जो लक्षण शास्त्रमें लिखे हैं, वे देखनेमें आ रहे हैं। इसलिये जो मिला है, उससे जल्दी लाभ उठा लो।

लोग कहते हैं कि बार-बार सत्संग करनेसे क्या लाभ? पर शंकरजी सदा सत्संग माँगते हैं—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अपनायनी भगति सदा सतसंग॥

(मानस, उत्तर० १४ क)

*** *** ***

हे नाथ! मैं आपका हूँ, आप मेरे हो—ऐसा सुनकर भगवान्‌को बड़ा आनन्द आता है। ऐसा कहनेवालेका भगवान् बड़ा आदर करते हैं।

कभी-न-कभी ऐसी बात मनमें आयी है कि संसारमें दुःख है, भगवान्‌के भजनमें लगना अच्छा है, तभी सत्संग मिला है। हमें याद हो या न हो, पर ऐसी वृत्ति कभी आयी है।

भगवान्‌ने अपने सम्मुख होनेके लिये जीवको मनुष्यशरीर दिया है। हरेक मनुष्यके सामने ऐसी परिस्थिति आती है कि वह संसारसे उकता जाय। यह भगवान्‌की कृपा है। जो संसारसे कभी उकताए नहीं—ऐसा व्यक्ति मिलेगा नहीं। यह भगवान्‌का आवाहन है। वे प्रत्येक जीवको अपनी तरफ बुला रहे हैं। इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको अपनी स्थितिसे सन्तोष नहीं होता।

*** *** ***

मानवको भगवान्‌ने इसलिये रचा है कि यह मुझे 'मेरा' कह सके।

दूसरोंके सुखसे सुखी और दुःखसे दुःखी होनेपर कर्मयोग सुगम हो जाता है, दूसरोंके दुःखसे दुःखी होनेपर त्याग स्वतः होता है। उसके द्वारा अपने-आप दूसरोंकी सेवा होती है।

दूसरोंका हित करनेवाला दुःखी नहीं हो सकता। दूसरोंको तृप्त करनेसे अपनी तृप्ति स्वतः होती है। स्वार्थीकी तृप्ति कभी हो सकती ही नहीं।

भोगोंसे जो सुख होता है, उससे त्यागका सुख तेज होता है। वास्तवमें भोगोंका सुख भी त्यागसे होता है।

जिसको लेना-ही-लेना आता है, उसको देना नहीं आता। परन्तु जिसको देना आता है, उसको लेना भी आता है और देना भी।

*** *** ***

जो भगवान्‌की तरफ चलनेमें रोकते हैं, वे बहुत बड़ा अपराध करते हैं। ब्रह्माजीने ग्वालबालोंको भगवान्‌से अलग किया तो भगवान् ब्रह्माजीसे बोले ही नहीं! ऊँचे-से-ऊँचे पदपर स्थित ब्रह्माजीसे भी भगवान् नाराज हो गये। जब ब्रह्माजीका भी अपराध भगवान् सह नहीं सके, फिर आप-हम क्या चीज हैं?

जैसे नदियाँ जबतक समुद्रमें नहीं मिलतीं, तबतक उनकी मुसाफिरी, यात्रा मिटती नहीं, ऐसे ही जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, तबतक जीवकी मुसाफिरी मिटती नहीं।

*** *** ***

हमने शरीरके साथ सम्बन्ध मान रखा है, तभी मृत्युका भय लगता है। शरीरके साथ हमने दो रीतिसे सम्बन्ध माना है—अभेदपूर्वक (शरीर मैं हूँ) और भेदपूर्वक (शरीर मेरा है)। वास्तवमें 'मैं' और 'मेरा' दोनों हैं ही नहीं।

परमात्माकी आवश्यकता अनन्त जन्म लेनेपर भी मिटेगी नहीं। आवश्यकता पूरी होनेपर संसारकी इच्छा टिकेगी नहीं।

जैसे उदय होनेके बाद सूर्य अस्तकी ओर ही जा रहा है, ऐसे ही सब संसार अभावकी ओर ही जा रहा है।

संसारकी इच्छा छोड़ दो तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि वह प्राप्त है। उसकी इच्छा करनेकी जरूरत नहीं।

जानेवाली चीजोंका मोह छोड़ दो, पर सेवा मत छोड़ो। उनको रखनेकी इच्छा करोगे तो उनके जानेसे दुःख होगा। जो नहीं है, वह रहेगा कैसे? जो है, वह मिटेगा कैसे? इसलिये सेवा कर दो, वह रहे तो मौज, जाय तो मौज। सेवा करना आपकी जिम्मेदारी है।

जैसे विवाह होनेके बाद आप निरन्तर विवाहित रहते हो, कुँआरे नहीं होते, ऐसे ही एक बार भगवान्‌के हो जाओ, फिर निरन्तर भगवान्‌के ही रहोगे। हम अपनी तरफसे भगवान्‌से अलग हुए हैं? भगवान्‌की तरफसे अलग नहीं हुए हैं।

मुक्ति मुफ्तमें होती है। जो अपना नहीं है, उसे अपना न मानें और जो अपना है, उसे अपना मान लें।

मिली हुई वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे आपकी, संसारकी और भगवान्‌की—तीनोंकी सेवा हो जायगी और तीनों ही राजी हो जायँगे।

*** *** ***

आजसे यहाँपर श्रीरामचरितमानसका नवाह्न पारायण होने जा रहा है*! आज बहुत विशेष आनन्दका अवसर है! यह बड़ा भारी अनुष्ठान है, यज्ञ है, ज्ञानयज्ञ है! **संसारके सब पुण्योंसे बढ़कर भगवान्‌की चर्चा है!** इसे संयमपूर्वक, ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए, मन लगाकर सुनें। भागवत सबने सुनी थी, पर उद्धार धुन्धुकारीका हुआ, क्योंकि उसने मन लगाकर सुनी। यह अवसर दुबारा नहीं मिलेगा। भगवान्‌की विशेष कृपासे ऐसा अवसर मिलता है। **ऐसे अवसरपर स्वयं भगवान् आते हैं, भक्त आते हैं, अन्तरिक्षमें देवता आते हैं पवित्र होनेके लिये!**

पाठ तो हम करें, पर भाव यह रखें कि सबका कल्याण हो जाय।

*** *** ***

वर्तमान सभीका निर्दोष है। परन्तु इसका उपाय क्या है? अपनी निर्दोषताको सुरक्षित रखें। **आगन्तुक दोषसे आप दोषी नहीं होते। दोषके समय भी आप निर्दोष रहते हैं।** निर्दोषको ही दोष दीखते हैं। आप रहनेवाले हो और दोषोंको आते-जाते देखते हो।

---

* कलकत्ता, दिनांक २१ दिसम्बर, १९९६

श्रोता—निर्दोषताको सुरक्षित कैसे रखें?

स्वामीजी—यदि निर्दोषताको आप हरदम रखना चाहते हैं तो किसीमें भी दोष न देखें। निश्चय कर लें कि आजसे हम न अपनेको (स्वयंको) और न दूसरेको दोषी मानेंगे।

कोई प्राणी सर्वथा दोषी हो ही नहीं सकता। दोष आगन्तुक है और किसी कारणसे अपनेमें अथवा दूसरेमें आया दीखता है। दोष आपका साथी नहीं है। आपका साथी है—निर्दोषता। सच्चाईको आप छोड़ नहीं सकते और सच्चाई आपको नहीं छोड़ सकती, क्योंकि सच्चाई आपका साथी है।

किसीमें भी दोष देखेंगे तो 'वासुदेवः सर्वम्' कैसे दीखेगा? अतः किसीमें भी दोष न देखें, किसीमें भी दोष कायम न करें। **इस एक साधनसे आप निर्दोष हो सकते हैं, 'वासुदेवः सर्वम्' देख सकते हैं।**

*** *** ***

महिमा मनुष्यशरीरकी नहीं, विवेककी है। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेदके लिये विवेक काम आता है। आध्यात्मिक उन्नतिमें भाव, उद्देश्य काम आता है।

विवेकके द्वारा नाशवान्‌का त्याग करके अविनाशीको प्राप्त करना आपका काम है। इसमें भगवान् सहायता करते हैं।

यह नियम है कि जब किसीको भगवान् और सन्तमें क्रोध आता है अथवा इनके प्रति दुर्भाव होता है, तब उसे भगवान् और सन्तमें गुण दीखते ही नहीं, अवगुण-ही-अवगुण दीखते हैं। नारदजीको भगवान्‌पर क्रोध आया तो वे बोले—***'स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु'*** (मानस, बाल० १३६)।

धनके कारण आप अपनेको ऊँचा मानते हैं—यह आपकी बड़ी फजीहत है, निन्दा है। आप हाथकी मैलसे भी नीचे हो गये। **आपकी इज्जत धन बढ़नेसे नहीं है, प्रत्युत धर्म बढ़नेसे है।** भगवान् भी धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं।

पहले हमारे समाजमें पैसोंवालेकी इज्जत नहीं होती थी। पैसे राक्षसोंके पास होते थे। पैसोंवाला समर्थ नहीं है। समर्थ वह है, जो दूसरोंको समर्थ बनाये। **जो दूसरोंको असमर्थ करे, वह समर्थ नहीं है, प्रत्युत राक्षस है, असुर है।**

*** *** ***

परमात्मा बहुत दूर हैं, संसार हमारे साथ है—यह धारणा गलत है। **परमात्मा 'मैं हूँ' से भी ज्यादा नजदीक हैं और अपने हैं।** परमात्मा वही हो सकते हैं, जो सबके हों, सब समय हों, सबमें हों।

सभी जीव परमात्माके सम्बन्धी हैं। परमात्मा जैसे अपने हैं, वैसे शरीर अपना नहीं है। जैसे बच्चा माँको प्यारा होता है, ऐसे हम भगवान्‌को प्यारे हैं। हम कुपुत्र हों तो भी उनके पुत्र तो हैं ही। हम परमात्मासे कभी दूर नहीं हो सकते। परमात्मामें भी यह ताकत नहीं कि वे हमसे दूर हो जायँ। आकाश क्या पृथ्वीसे दूर हो सकता है?

मेरी प्रार्थना है कि आप हृदयसे यह मान लें कि 'मैं परमात्माका हूँ, परमात्मा मेरे हैं'। पापी-से-पापी मनुष्यसे भी भगवान् दूर नहीं हो सकते। **परमात्मा 'दूर' भी नहीं हैं और 'दूसरे' भी नहीं हैं।** अतः परमात्माको न दूर समझो, न दूसरा समझो। कोई भी चीज 'है' से अलग तथा दूर

नहीं हो सकती। **परमात्मा जैसी सुलभ चीज कोई है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं।**

शरीर अपना है तो फिर इसको मरने क्यों देते हो? संसारका सुख सदा नहीं रहता, क्योंकि वह अपना नहीं है। मनुष्यको भगवान्‌ने अपने लिये पैदा किया है, तभी केवल मनुष्य ही भगवान्‌को अपना कह सकता है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'***

*** *** ***

मनुष्यशरीरके लिये आया है—***'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'*** (मानस, उत्तर० ४३।४)। मनुष्यशरीर मुक्तिका द्वार है, केवल भीतर प्रवेश करना है। इस शरीरमें मुक्ति जितनी सरल है, उतनी कहीं नहीं। 'साधन धाम' कहनेका अर्थ है कि प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, चाहे वह सुखदायी हो या दुःखदायी। यह बात सब जगह पढ़ने-सुननेको नहीं मिलती।

आपके पास जो अधिक सामग्री आयी है, वह उदार बनानेके लिये आयी है। अतः उससे अभावग्रस्तकी सेवा करो। सेवा करना और भजन करना—दोनोंका फल एक है।

*** *** ***

भरद्वाजजी आध्यात्मिक मार्गके ज्ञाता थे, अतः भगवान् राम उनसे मार्ग पूछते हैं—

राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं॥

(मानस, अयोध्या० १०९।३)

वाल्मीकिजी 'रामायण' अर्थात् रामजीका अयन (घर) बनानेवाले हैं; अतः राम उनसे रहनेका स्थान पूछते हैं—

अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ॥

(मानस, अयोध्या० १२६।३)

भगवान् रामको चौदह वर्षोंतक वनमें रहना था, अतः वाल्मीकिजीने उनके रहनेके चौदह स्थान बताये।

ज्ञानमें मनुष्य तृप्त हो जाता है, पर प्रेममें तृप्त नहीं होता। ज्ञानमें सबसे अरुचि हो जाती है पर प्रेमसे कभी अरुचि होती ही नहीं।

*** *** ***

यह शरीर हमें माँने दिया है। उस माँको कभी मत भूलो। माँका ऋण कोई चुका तो नहीं सकता, पर माफ करा सकता है। माँकी प्रसन्नतासे ऋण माफ हो जाता है। **भगवान्‌की कृपाका ही एक छोटा-सा नमूना माँकी कृपा है।**

उपनिषद्‌में आया है—**'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अथितिदेवो भव।'** (तैत्तिरीय० १।११)। यहाँ 'देव' शब्द परमात्माका वाचक है। तात्पर्य है कि माता, पिता, आचार्य और अतिथिको साक्षात् परमात्मा समझो।

पिताको भूलोगे तो परमपिताको कैसे याद करोगे? माता, पिता और गुरुकी कृपाका अन्त नहीं है। जिनका प्रत्यक्ष उपकार पाया है, उनको भूल जाओगे तो दूसरोंको क्या याद रखोगे?

हमारा उपकार करनेवाले अच्छे-से-अच्छे जितने व्यक्ति हैं, उनके शिरोमणि हैं—भगवान्। भगवान्‌को कभी मत भूलो।

*** *** ***

कोई पतिव्रता स्त्री पतिका दुःख सह ले—यह बड़ी कठिन बात है। कैकेयीने रामजीको बनवास दे दिया, पर सीताजीने कैकेयीको कभी बुरा नहीं कहा, उल्टे उसकी समभावसे सेवा की। सीताजीमें कैकेयीके प्रति द्वेष, दुर्भाव नहीं था। स्त्रियोंके पूछनेपर सीताजी लक्ष्मणके प्रति कहती हैं—***'नामु लखनु लघु देवर मोरे'*** (मानस, अयोध्या० ११७।३) अर्थात् ये मेरे लघु (छोटे) देवर हैं, बड़े देवर (भरतजी) घरपर हैं। सीताजीको भरतजीकी याद रहती है, अन्यथा वे **'लघु देवर'** क्यों कहतीं? केवल 'देवर' कह देतीं।

रामजी अपने लिये नहीं, हमारे लिये लीला कर रहे हैं। हमें शिक्षा दे रहे हैं।

मैं पैसोंकी निन्दा नहीं करता, प्रत्युत उनकी गुलामीकी निन्दा करता हूँ। मेरा तात्पर्य पैसोंकी गुलामी छोड़नेमें है, पैसा छोड़नेमें नहीं। मिलनेवाला पैसा झूठ-कपटके बिना भी मिलेगा। अभी जो पैसा आता है, वह प्रारब्धसे आता है, झूठ-कपटसे नहीं। प्रारब्धमें हो तो धनवान् भी गरीब हो जाते हैं और गरीब भी धनवान्। त्याग करनेसे उल्टे वस्तु ज्यादा आती है। मनमें तृष्णा न रखे, धनका संग्रह और दुरुपयोग न करे तो नया प्रारब्ध बन जायगा।

गोस्वामीजी कहते हैं—

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत मिलन सम सुख जग नाहीं॥

(मानस, उत्तर० १२१।७)

तात्पर्य है कि जिसे सत्संग नहीं मिलता, वह दरिद्र है। यदि ऐसा अर्थ न होता तो आगे यह कहते—***'धन मिलन सम सुख जग नाहीं।'***

भगवद्भजनके बिना सब दरिद्र हैं, क्योंकि यह भजनरूपी धन मरनेपर भी साथ चलता है।

खर्चसे अधिक धन मिलना और कामसे अधिक समय मिलना—ये दोनों ही पतन करनेवाले हैं।

*** *** ***

गीता-पाठकी बड़ी महिमा है। भगवान्‌के अवतारके कम-से-कम पाँच श्लोक प्रत्येक व्यक्तिको कण्ठस्थ हो जायँ—इस दृष्टिसे आपको इन पाँच श्लोकोंका पाठ कराया जाता है*। यदि अन्तसमयमें गीताका कोई श्लोक याद आ जाय तो उद्धार हो जाय।

भगवान्‌का, गीता आदि ग्रन्थोंका प्रचार करना भगवान्‌का काम नहीं भक्तोंका काम है।

---

* गीताके नित्य पठनीय पाँच श्लोक ये हैं—

१. अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
२. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
३. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
४. जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
५. वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

(गीता ४।६-१०)

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-को बीस-बाईस वर्षकी अवस्थामें तत्त्व-साक्षात्कार हो गया था।

मुझे गीता पढ़नेसे इतना लाभ नहीं हुआ, जितना गीता सुनने और सुनानेसे (सत्संगसे) हुआ है। सुनानेसे मुझे गीताका बोध बहुत ज्यादा हुआ है।

सत्संगमें वही बातें निकलती हैं, जिनकी लोगोंको आवश्यकता है। भगवान् कृपा करके वे बातें देते हैं।

अगर मैं अपने वीडियो-चित्र लेने दूँ तो भगवान्‌के चित्र रुक जायँगे और मेरे वचनोंका वैसा प्रभाव भी नहीं रहेगा। मेरे पास वीडियो देखनेवाले ज्यादा आयँगे, श्रद्धा-विश्वासवाले बहुत कम आयेंगे। एक तमाशा हो जायगा। मैं अपने वीडियोकी इजाजत दूँगा, तो फिर गन्दे वीडियोको देखनेके लिये मना कैसे करूँगा कि उसको मत देखो? **सिनेमासे काम, क्रोध और लोभ—तीनों दोषोंका प्रचार होता है।**

*** *** ***

आप वास्तवमें गुणोंसे अतीत हैं। हम गुणातीत नहीं हैं—केवल यह वहम् मिटाता है। गुण दीखते हैं। दीखनेवालेसे देखनेवाला अलग होता है। आप तीनों गुणोंको, तीनों अवस्थाओंको जाननेवाले हैं। अतः आप तीनों गुणोंसे, तीनों अवस्थाओंसे अतीत हैं।

हर समय नामजप करें, भगवच्चर्चा करें, भक्तोंके चरित्र पढ़ें तो आप रजोगुण-तमोगुणसे ऊँचा उठ जायँगे। **भगवान्‌को याद करते ही हम गुणातीत हो जाते हैं।** भगवान्‌का निर्गुण रूप भी गुणातीत है और सगुण रूप भी। जब जीवन्मुक्त महापुरुष भी गुणातीत होता है तो क्या सगुण भगवान् गुणातीत नहीं होंगे? आप भी स्वरूपसे गुणातीत हैं—'**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्**' (गीता १३।३१)। एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें जानेके बीचमें अर्थात् सन्धिमें आप अवस्थातीत (निर्गुण) होते हैं। वास्तवमें आप निरन्तर अवस्थातीत हैं। गुण आते-जाते रहते हैं, अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, पर आप ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

जो गुणातीत है, वही गुणातीत होता है। आप मकानमें रहते हुए भी मकानसे अलग हैं, खम्भेकी तरह मकानमें स्थित नहीं हैं। ऐसे ही गुणोंमें रहते हुए भी आप गुणोंसे अलग हैं।

अनुभव 'करना' नहीं है, प्रत्युत अनुभव 'है'।

*** *** ***

भगवान्‌की याद आ गयी तो समझो सब काम सिद्ध हो गये। प्रत्येक कार्यके आरम्भमें भगवान्‌का याद करना भारतकी अनादि रीति है। भगवान्‌को याद करना और सेवा करना—ये दो ही मनुष्यके खास काम हैं।

कन्यादान अन्य दानोंकी तरह नहीं है। कन्यादान करते हैं केवल सन्तान (वंश-परम्परा) के लिये। इसका यह अर्थ नहीं कि अब कन्यापर ससुरालवालोंका पूरा अधिकार हो गया, वे चाहे कुछ करें। यह दान सन्तान-परम्परा चलानेके लिये है और सन्तान होनेपर उस कन्यापर माँ-बापका भी अधिकार होता है। माँ-बाप उसके घरका अन्न-जल ले सकते हैं। तभी नाना-नानीका श्राद्ध करनेका अधिकार होता है।

तत्त्वज्ञान हुए बिना शरीरका दान (नेत्रदान आदि) करनेका अधिकार नहीं है। इस जन्मके शरीरका अगले जन्मके शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है। अतः इस शरीरमें यदि कोई नेत्रदान आदिके द्वारा

अंग-भंग करेगा तो अगले जन्ममें वह नेत्रहीन होगा।

आज भगवान्, पुरुषार्थ, धर्म, प्रारब्धपर विश्वास नहीं रहा, केवल पापपर विश्वास हो रहा है।

*** *** ***

परमात्मा नजदीक-से-नजदीक हैं। उनको हमने अपना नहीं माना, इसीसे हम दुःख पा रहे हैं। भगवान्‌के समान हमें प्यार करनेवाला कोई हुआ नहीं, होगा नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं। **एक-एक प्राणी भगवान्‌को अत्यधिक प्यारा है।**

केवल भगवान् ही खास अपने हैं। अन्यको कबतक अपना मानोगे? कोई सदा साथ रहनेवाला नहीं है। भगवान् रात-दिन हमारे हितमें लगे हैं। किसीको भी साथ टिकने नहीं देते। संसारमें यह सामर्थ्य नहीं कि आपके साथ रह जाय और आपमें यह सामर्थ्य नहीं कि संसारको साथ रखें। जिसके लिये आपको भजनका समय नहीं मिलता, वह आपके कौड़ी भी काम नहीं आयेगा।

*** *** ***

श्रोता—बिना देखे भगवान्‌को कैसे मानें?

स्वामीजी—प्रश्न तो यह होना चाहिये कि प्रत्यक्ष बदलनेवाले संसारपर विश्वास कैसे करें? क्या आपको ऐसी कोई चीज दीखती है, जो बदलनेवाली न हो?

मानी वही बात जाती है, जो दीखती न हो। अपनी माँको किसीने देखा है? अपनी जाति, नाम, सम्बन्धको किसीने देखा है? बिना माने आप बता सकते हैं कि किस पुरुषकी कौन-सी स्त्री है? यह दीखता नहीं है, पर आप मानते हो।

और सब बातें मानते हैं, पर जिससे कल्याण हो जाय, वह बात नहीं मानेंगे।

*** *** ***

जो सच्चे हृदयसे अपना उद्धार चाहता है, उसे भगवान् पुनः मौका (मनुष्यजन्म) देते हैं—**'योगभ्रष्टोऽभिजायते'** (गीता ६।४१)

मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—ऐसा भाव साधकमें हर समय स्वतः-स्वाभाविक बना रहना चाहिये। फिर ऐसा दीखे कि सब भगवान्‌के हैं। अपनेमें कोई विशेषता, अधिकता न दीखे। **अपनेमें विशेषता देखनेसे व्यक्तित्व, एकदेशीयपना टूटता नहीं।**

साधक सावधानीपूर्वक साधनको करे, सिद्धि न देखे। **अपनी अच्छी-से-अच्छी स्थिति हो जाय तो भी उसमें सन्तोष न करे।** पारमार्थिक उन्नतिमें कभी सन्तोष करे ही नहीं। मान-बड़ाईमें फँसनेसे साधनकी उन्नति नहीं होती।

अपनेको साधारण और दूसरेको विशेष समझनेवाला सज्जन होता है। अपनेको विशेष और दूसरेको साधारण, छोटा माननेवाला दुर्जन होता है।

साधनमें हताश होनेसे भी बाधा लगती है और अभिमान करनेसे भी बाधा लगती है। साधकके लिये सत्संगकी बड़ी आवश्यकता है। जो साधन नहीं करते, उनको कथा-कीर्तन-समारोहसे लाभ हो सकता है।

सच्चे साधकको कहींसे भी कामकी बात मिल जाती है। भगवान् कई तरीकोंसे उसे चेताते रहते हैं।

*** *** ***

जिसको भगवान् अच्छे लगते हैं, उसको सन्त अच्छे लगते हैं। जिसको सन्त अच्छे लगते हैं, उसे सारी दुनिया अच्छी लगती है।

यदि हमारे हृदयमें सबके हितका भाव हो जाय तो हम, महात्मा और भगवान्—तीनों एक हो जायँगे। एक जातिके हो जायँगे।

वास्तवमें प्रचार हमारे अनुभवका होता है। **तात्पर्य है कि जो बात हमारे जीवनमें आ जाती है, उसका प्रचार होता है।** नकली बातका प्रचार नहीं होता।

जबतक संसारमें एक भी जीव बन्धनमें पड़ा है, तबतक सन्तोष कैसे हो?

कोई भी राजा-महाराजा दूसरेको अपनेसे बड़ा नहीं बनाना चाहता। परन्तु भगवान् मनुष्यको अपनेसे बड़ा बनाना चाहते हैं।

भगवान्‌के भजनमें लगनेसे दुनियामात्रका हित होता है। भगवान्‌के पूजनसे सबका पूजन हो जाता है।

*** *** ***

हमारेपर अनुकूल-प्रतिकूल, लाभ-हानि, जन्म-मरण आदिका कोई असर नहीं पड़े—इसीका नाम मुक्ति है। जैसे, संसारमें कई जन्मते-मरते हैं, कइयोंको लाभ-हानि होते हैं, पर उसका हमारेपर कोई असर नहीं पड़ता।

कुण्डलिनी जाग्रत् होनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। सोयी हुयी सर्पिणीको जगा देनेसे क्या कल्याण हो जायगा?

गुरु होता है, बनाया नहीं जाता। **गुरु तब होता है, जब शिष्यको तत्त्वबोध हो जाता है। यदि तत्त्वबोध नहीं हुआ है तो केवल ठगाई हुई है।**

*** *** ***

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात गीतामें विशेषरूपसे आयी है। किसीके साथ बर्ताव करें तो यह भाव रखें कि भगवान्‌से बर्ताव कर रहा हूँ। आपके द्वारा किसीको भी दुःख न पहुँचे। **राग-द्वेषके कारण ही संसार दीखता है, भगवान् नहीं दीखते।**

बालककी तीन अंगुल (जीभ)-की दृष्टि होती है, इसलिये वह कड़वी दवा थूक देता है। बड़े आदमीकी तीन हाथ (शरीर)-की दृष्टि होती है। परन्तु साधककी दृष्टि तीन जन्मोंकी होती है। इससे आगे दृष्टि जायगी तो **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ भगवान् ही हैं) दीखने लग जायगा। इस दृष्टिको पानेके लिये ही यह सत्संग है। सत्संगसे राग-द्वेष अपने-आप छूटते हैं। सत्संगसे इतना प्रकाश मिलता है कि मैं कह नहीं सकता।

*** *** ***

आजकल लोग सुखभोगकी बात समझते हैं, त्यागकी बात उनकी समझमें आती ही नहीं। वे सफाईकी बात तो समझते हैं, पर शुद्धिकी बात वे समझते ही नहीं।

परमात्माका स्वरूप है—'है', और संसारका स्वरूप है—'नहीं'। यह ज्ञान है। परन्तु शरीर-संसारको 'है' और आत्मा-परमात्माको 'नहीं' मानना अज्ञान है।

जो हरदम नहीं रहता, वह मेहमान होता है। उसकी सेवा कर दो, पर अपना मत मानो। शरीरको भेजनेकी जरूरत नहीं, यह स्वतः जा रहा है। शरीरकी सेवा कर दो, उसे अन्न-जल-वस्त्र

दे दो, उससे काम ले लो।

मातहत सदा लाभका हिस्सेदार होता है और मालिक सदा नुकसानका हिस्सेदार होता है। स्त्री पतिके पुण्यकी भागीदार होती है और पति स्त्रीके पापका भागीदार होता है।

*** *** ***

'हूँ' जीव है और 'है' परमात्मा है। **'हूँ' में ही 'है' है।**

यदि हमें तत्त्वज्ञान हो गया तो अब सबको तत्त्वज्ञान कैसे हो—यह बाकी रह गया।

धनका संग्रह करते हैं तो धन आगे काम नहीं आयेगा। धन तो पीछे (दूसरोंके) काम आयेगा, आगे काम आयेंगे पाप!

सन्त-महात्मामें अवगुण तो रहता नहीं और गुण दीखता नहीं, फिर वे अभिमान कैसे करें?

*** *** ***

साधु होकर, विधवा होकर और बूढ़े होकर भजन न करें—यह बड़े आश्चर्यकी बात है! उनके लिये भजनके सिवाय और क्या काम बाकी रह गया?

कोई गुरु या महात्मा मिले या न मिले, केवल परमात्मप्राप्तिकी लगन हो जाय तो परमात्मप्राप्ति हो जायगी। लगन सच्ची होनी चाहिये।

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

(मानस, बाल० २५९।३)

जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक सब बालक ही हैं—'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः' (गीता ५।४)।

चिन्तन करनेसे संसारमें और चिन्तन न करनेसे परमात्मामें स्थिति होती है। अगर चिन्तन करना ही हो तो केवल भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये।

*** *** ***

भगवान्‌के सभी नामोंकी महिमा विशेष है। परन्तु शास्त्रोंमें 'राम' नामकी अधिक महिमा बतायी गयी है—***'राम सकल नामन्ह ते अधिका'*** (मानस, अरण्य० ४२।४)। नामकी महिमा कम नहीं है, पर लाभ तो जप करनेसे ही होगा।

'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥' (मानस, सुन्दर० ७।४)—यह हनुमान्‌जीकी नम्रता है, अन्यथा वे तो ***'मंगल मूरति रूप'*** हैं! उनका स्मरण करनेसे अमंगल कैसे होगा?

*** *** ***

हरेक परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु हो सकती है। **ऐसी कोई परिस्थिति नहीं, जिसमें परमात्माकी प्राप्ति न कर सकें।**

कर्तव्यका पालन करनेपर हार हो जाय तो भी जीत है।

अगर भीतरमें राग-द्वेष हैं तो साधु बननेपर, संन्यास लेनेपर भी मुक्ति नहीं होगी। मुक्तिके लिये राग-द्वेषका त्याग करनेकी जरूरत है, साधु बनने, कपड़ोंका रंग बदलनेकी जरूरत नहीं।

कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही राग-निवृत्तिके लिये होने चाहिये।

*** *** ***

मेरेको मिले—यह काम (आसक्ति) है, और दूसरेको मिले—यह प्रेम है।

हम संसारको जितना अपना मानते हैं, उतना भगवान्‌से अपनापन हट जाता है।

दूसरेका हित करनेमें जो घाटा आ जाय, वह घाटा भी बड़े कामका है—

पयार्यपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्याघ्यतरो हि वृद्धेः॥

(रघुवंश ५।१६)

'देवताओंके द्वारा क्रमसे अमृत पी लेनेके कारण चन्द्रमाकी कलाका क्षय होना उसकी वृद्धिसे कहीं अधिक प्रशंसनीय होता है।'

*** *** ***

भगवान्‌के मिलनेपर प्रेम हो जाय—यह नियम नहीं है। परन्तु प्रेम होनेपर भगवान् मिल जाते हैं। **प्रेमका मूल्य भगवान्‌से भी अधिक है,** तभी प्रेमसे भगवान् खिंच जाते हैं, प्राप्त हो जाते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(मानस, बाल० १८५।३)

प्रेमके सिवाय और किसीमें भगवान्‌को खींचनेकी ताकत नहीं है। उस प्रेमकी प्राप्तिमें खास चीज है—अपनापन। अपनापन भगवान्‌को खींचता है। बालकका अपनापन ही माँको खींचता है। **अतः अपनापन ही भगवान्‌के प्रकट होनेमें खास कारण है।**

नाशवान्‌में प्रेम (अपनापन) ठहरेगा नहीं। नाशवान्‌में प्रेम अज्ञान (मूर्खता)-का लक्षण है—**'रागो लिङ्गमबोधस्य'** (जीवन्मुक्तिविवेक २)।

*** *** ***

सब वस्तुएँ भगवान्‌की हैं और भगवान् मेरे हैं। भगवान् हमारे होनेसे सब वस्तुएँ भी हमारी हो गयीं, पर भगवान्‌के नाते वस्तुओंको अपनी माननेसे उनका जहर नहीं चढ़ेगा।

कोई जन्म गया तो मानो एक अध्याय शुरू हो गया। उसकी सेवा कर दो। कोई मर गया तो मानो एक अध्याय पूरा हो गया। उसे विदा कर दो।

अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरेका हित देखो, फिर आपका सम्पूर्ण बर्ताव शुद्ध हो जायगा। अपना स्वार्थ रखोगे तो राक्षस बन जाओगे। मैं सुखी हो जाऊँ, और चाहे चूल्हेमें जायँ—यह भाव रहेगा तो सब-के-सब दुःखी हो जायँगे।

अन्धोंका आँखवालोंपर अधिकार है। आँखवाले उनके ऋणी हैं। ऐसे ही निर्धनोंका धनवानोंपर अधिकार है। निर्धनोंकी सेवा नहीं करोगे तो पाप लगेगा। अभावग्रस्तोंकी सेवा न करना कृतघ्नता है। आपका बल निर्बलोंके लिये है। उनकी सेवा करो।

*** *** ***

आवश्यकताएँ कम करनेसे मनुष्यका जीवन सुखी हो जाता है।

अधर्मसे कमाया हुआ धन धर्ममें कैसे लगेगा? **वास्तवमें अधर्मसे कमाए हुए धनसे बनी चीज दूसरोंके काम आती ही नहीं।** यदि दो नम्बरका पैसा काममें लगाओ तो सच्चे हृदयसे प्रार्थना करो कि जिसका पैसा है, उसीको इसका फल मिले।

पापोंके, भावोंके कीटाणु रोगके कीटाणुओंसे भी अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। अतः आवश्यक छुआछूत

रखनी ही चाहिये।

* * * * * * * * *

सबसे बड़ा प्रायश्चित है—पश्चात्ताप। सम्पूर्ण पापोंका नाश तो भगवान्‌की कृपासे ही होता है। भोगकर सम्पूर्ण पापोंका नाश नहीं कर सकते। भगवन्नाममें पापनाशकी विलक्षण शक्ति है। नामजपसे ज्ञात-अज्ञात सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

जो भोग और संग्रहमें लगे हैं, वे भजन नहीं कर सकते। भोग और संग्रह—दोनों ही भजनमें खास बाधक हैं।

मदिरापान और परस्त्रीगमनसे धार्मिक भाव नष्ट होते हैं, आस्तिक भाव नष्ट होते हैं, बुद्धि नष्ट होती है। मदिरा पीनेवाले और परस्त्रीगमन करनेवाले व्यक्ति सत्संगकी बातोंको धारण नहीं कर सकते।

* * * * * * * * *

अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरेका हित करनेवालेको किसी प्रकारकी कमी नहीं रहती।

परिस्थितिका सदुपयोग करें, उसे बदलनेकी चेष्टा न करें। परिस्थितिको बदल तो नहीं सकते, पर सदुपयोग कर सकते हैं।

हमारी धनवत्ता हमारे लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंके लिये, निर्धनोंके लिये है। ऐसी ही हमारी विद्वत्ता, बलवत्ता आदि भी हमारे लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंके लिये है। धनियोंको बड़प्पन निर्धनोंने ही दिया है। निर्धन न होते तो धनियोंको बड़प्पन कैसे मिलता?

* * * * * * * * *

आप और आपका उद्देश्य मुख्य है, मनकी स्फुरणा गौण है। आप तीनों शरीरोंके मालिक होनेसे मुख्य हैं।

उत्पन्न-नष्ट होनेवाली वस्तुमें भविष्य होता है, अविनाशी वस्तुमें वर्तमान होता है। कर्मका फल भविष्यमें मिलता है, पर भगवत्प्राप्तिमें भविष्य नहीं है। केवल उधर दृष्टि, लक्ष्य करना है।

व्यापारी कोयला खरीदता और बेचता है, पर उसका लक्ष्य पैसोंकी तरफ रहता है। इस तरह आपका लक्ष्य भी परमात्माकी तरफ रहना चाहिये। **हरेक काममें लक्ष्य परमात्माका होगा तो व्यवहारमें परमार्थ हो जायगा।**

जैसे कुरता दरजीसे मिला तो क्या हम दरजीके हो गये? ऐसे ही शरीर संसारसे मिला तो क्या हम संसारके हो गये?

हमें सत्संगमें जाना है—इतनेमात्रसे आपका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया! मैं भगवान्‌का हूँ—इतनी बात स्वीकार करते ही आप संसारके नहीं रहे! जैसे विवाह होनेपर पीहर वह नहीं रहता, बदल जाता है, पहले जैसे अपना नहीं दीखता, ऐसे ही भगवान्‌का हो जानेपर संसार वह नहीं रहता, बदल जाता है।

* * * * * * * * *

हमारा जीवन किसी व्यक्तिके अधीन नहीं है, प्रत्युत प्रभुके अधीन है। आप पहलेसे ही श्रेष्ठ हैं। अच्छा कार्य करके अच्छे बनेंगे—ऐसी बात नहीं है। अपनेको कभी पापी, दोषी न समझें। दोष आगन्तुक हैं। आप निर्दोष हैं, दोष आपके साथ रह नहीं सकते। आप स्वयं परमात्माके साक्षात् अंश हैं, अतः अपनेमें दोषोंकी स्थापना न करें। भगवत्कृपाका भरोसा रखें। कृपाका भरोसा रखनेवाला कभी

गिर नहीं सकता—

तुलसी सीताराम कहु दृढ़ राखहु बिस्वास।
कबहूँ बिगरे ना सुने रामचन्द्र के दास॥

भगवान्‌का अंश कैसे बिगड़ेगा? दोष दीखे तो 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारो। **भगवान्‌की शक्ति भगवान्‌के लिये नहीं है, हमारे लिये है।**

*** *** ***

दुर्लभं त्रयमेवैतद्दैवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

(विवेक-चूड़ामणि ३)

'भगवत्कृपा ही जिनकी प्राप्तिका कारण है, वे मनुष्यत्व, मुमुक्षत्व (मुक्तिकी इच्छा) और महापुरुषोंका संग—ये तीनों ही दुर्लभ हैं।'

इन तीनों दुर्लभ चीजोंमें मनुष्यत्व तो हमें प्राप्त हो गया, महापुरुषका संग भगवान्‌पर छोड़ दें, और अपनी मुमुक्षा दृढ़ करें। जैसे अन्न, जल, औषध, श्वास खुदको ही लेने पड़ते हैं, दूसरे से नहीं करवा सकते, ऐसे ही कल्याण खुदको ही करना पड़ता है—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६।५)।

सुखी-दुःखी होना भोगी आदमीका काम है, योगीका नहीं। योगी सुख-दुःखमें सम रहता है।

संसारकी चीजें माँगनेकी नहीं होतीं, वे तो प्रारब्धके अनुसार स्वतः मिलती है। माँगनेकी चीज है—भगवान्‌का विश्वास, भक्ति, प्रेम।

जैसे वर्षा होनेपर खेतमें विलक्षणता आ जाती है, ऐसी ही सत्संग करनेसे साधनमें विलक्षणता आ जाती है।

*** *** ***

सबसे पहले निषिद्ध कर्मोंका त्याग आवश्यक है। जैसे—बीज डालनेसे पहले खेत साफ करना आवश्यक है, अन्यथा बीज पनपते नहीं।

किसी भी तरहका व्यसन ठीक नहीं। व्यसनसे मनुष्यका जीवन पराधीन हो जाता है। सौंफ-सुपारीका भी व्यसन नहीं होना चाहिये, उसमें भी पराधीनता है।

आपका खान-पान शुद्ध होगा तो बुद्धि भी शुद्ध होगी।

अपनी संस्कृति जीवित रखनेके लिये चोटी और धोती रखनी आवश्यक है।

*** *** ***

यदि कोई बाल्यावस्थामें ही भगवान्‌में लग जाय तो सुगमतासे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। बड़े होनेपर संसारकी बातें भीतर ज्यादा भर जाती हैं, जिन्हें निकालनेमें कठिनता होती है। संसारके संस्कार जितने कम पड़ेंगे, उतना कल्याण सुगमतासे होगा।

भगवान्‌की प्राप्ति सहज है, स्वाभाविक है, स्वतः सिद्ध है, सुगम है। संसारकी प्राप्ति कठिन है, अस्वाभाविक है, कृत्रिम है। संसारकी प्राप्ति परतन्त्रतासे होती है। परमात्माकी प्राप्ति स्वतन्त्रतासे, बिना किसी सहायताके, अकेले कर सकते हैं। गुरु भी स्वाभाविक मिलते हैं। उनकी प्राप्ति किसी फीस देनेसे नहीं होती। वे बनावटी नहीं होते। **परमात्मप्राप्तिके सब साधन सस्ते हैं, केवल उनकी प्राप्तिकी**

भावना मँहगी हो रही है।

सूर्योदयके बाद उठनेसे बुद्धि कमजोर होती है। सूर्योदयसे पहले उठनेसे बुद्धिका विकास होता है।

विद्यार्थी एक नम्बरका होगा तो विद्वान् भी एक नम्बरका बनेगा। बहू एक नम्बरकी होगी तो सास भी एक नम्बरकी बनेगी।

*** *** ***

मनुष्यशरीरमें सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु है—विवेक। यह विवेक भगवान्‌ने मुफ्तमें दिया है। विवेकसे दो काम खास होते हैं—दूसरेका हित और भगवान्‌का भजन। विवेक-दृष्टिसे देखें तो हमारा जीवन बहुत लम्बा है। **हमारे जीवनका आदि-अन्त नहीं है।**

जैसे बचपनमें पढ़ाई नहीं की तो फिर वैसा मौका पुनः नहीं मिलता, ऐसे ही इस मनुष्यजीवनमें अपना कल्याण नहीं किया तो फिर ऐसा मौका मिलेगा नहीं। **न तो मनुष्यशरीर बार-बार मिलेगा और न सत्संग ही बार-बार मिलेगा।** अभी ज्यादा सत्संग मिलनेसे अवज्ञा हो रही है। जैसे, राजस्थान आदिमें लोग गंगाजलका चरणामृत लेते हैं, एक बूँद भी नीचे नहीं गिरने देते, पर ऋषिकेशमें रहनेवाले गंगाजीमें हाथ-पैर धोते हैं!

रुपयोंसे काम परतन्त्रतासे होता है, पर रुपयोंके बिना काम स्वतन्त्रतासे होता है।

एक सन्त स्त्रियोंके प्रति कहा करते थे—लड़ना नहीं, लड़ाना नहीं, रोना नहीं, रुलाना नहीं।

*** *** ***

विवेकशक्ति केवल देहाभिमान मिटानेके लिये है, विश्वासशक्ति केवल भगवान्‌को माननेके लिये है और क्रियाशक्ति केवल राग मिटानेके लिये है।

लेना जड़ता है। कुछ भी लेंगे तो जड़ ही लेंगे, चेतनता कैसे लेंगे? लेनेका अर्थ है—आफत लेना, जन्म-मरण लेना। स्वयं चेतन है। यदि वह जड़को लेगा तो तृप्ति कैसे होगी? उल्टे भूख ही बढ़ेगी। भोगोंका कभी अन्त नहीं आता। भोग भोगनेसे होनेवाली थकावटको ही तृप्ति कह देते हैं। थकावट कहो, चाहे बीमारी कहो।

सुखदायी परिस्थिति मनुष्यको कमजोर बनाती है और दुःखदायी परिस्थिति मजबूत बनाती है। भोगी व्यक्ति पराधीन हो जाता है। ज्यादा सुख भोगनेवालेको ज्यादा अभाव होता है।

*** *** ***

भगवान्‌से सांसारिक वस्तुएँ कितनी ही माँग लो, उससे सन्तोष कभी होगा नहीं। सांसारिक वस्तुओंसे कोई सुखी हुआ ही नहीं। दुःखालयसे सुख कैसे मिलेगा? अतः भगवान्‌से भगवान्‌को ही माँगो, और कुछ मत माँगो।

संसारसे शान्ति नहीं मिली—यह आपका अनुभव है। इस अनुभवका आदर करो। अबतक हमें कहाँ शान्ति मिली और कहाँ अशान्ति मिली—इसपर विचार करो। संसारके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद)-से ही सुख होता है—यह अकाट्य बात है। गाढ़ी नींदमें कोई दुःख नहीं रहता—यह सबका अनुभव है।

हृदयसे त्याग कर दो तो नया प्रारब्ध बन जायगा। जो प्रारब्धमें नहीं है, वह मिल जायगा।

* * * * * * * * *

भगवान्‌ने सृष्टिकी रचना ऐसे विचित्र ढंगसे की है कि सबमें सब गुण नहीं है। एक गुण किसीमें है, दूसरा किसीमें। दोनोंके मिलनेसे पूर्ति होती है। एक सब्जी पैदा करता है, दूसरा गेहूँ पैदा करता है। जिसके पास जिस वस्तुकी कमी हो, उसे वह वस्तु दे दे। परस्पर एक-दूसरेकी पूर्ति करे। एक-दूसरेको सुख पहुँचाये तो कल्याण हो जायगा—**'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'** (गीता ३।११)। आपका चारा (फल-सब्जियोंके छिलके आदि) गायके काम आता है, गायका दूध आपके काम आता है। चारों वर्ण अपने कर्मोंसे एक-दूसरेकी सेवा करें—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (गीता १८।४६)। **आपके पास जो चीज है, वह आपके कामकी नहीं है, प्रत्युत दूसरेके कामकी है—**

राग बाग तिय पट अतर, षटरस नवरस सोय।
कर्ता साधे कष्ट तैं, भुक्ता औरहि होय॥

(पाण्डवयशेन्दुचन्द्रिका ३।४७)

सन्तोंको रोटी (भिक्षा) मुफ्तमें मिलती है, लोगोंको उनसे ज्ञान मुफ्तमें मिलता है। पति बाहरका काम करता है, स्त्री घरका काम करती है—उसे रोटी खिलाती है। **एक-दूसरेको देना बदला नहीं है प्रत्युत अपने-अपने कर्तव्यका पालन है।** सन्त ज्ञानकी बिक्री नहीं करता, लोग भिक्षाकी बिक्री नहीं करते।

समान अधिकारसे तो संघर्ष होगा। **राग-द्वेषपूर्वक किये गये कामका परिणाम अच्छा नहीं होता।** भोगीकी कभी पूर्ति नहीं होती और त्यागीको कभी कमी नहीं होती।

* * * * * * * * *

श्रोता—व्यर्थ चिन्तन कैसे मिटे?

स्वामीजी—जबतक मनको अपना मानोगे, तबतक यह आफत मिटेगी नहीं। व्यर्थ चिन्तन किसी ज्ञान (प्रकाश)-के अन्तर्गत होता है। उस ज्ञानमें व्यर्थ चिन्तन नहीं है। मन प्रकृतिका कार्य है, आप परमात्माके अंश हैं। अतः दृढ़तासे यह स्वीकार कर लो कि मन और उसमें होनेवाला चिन्तन मेरेसे अलग है। आप संकल्प-विकल्पसे तटस्थ रहें। उससे न राजी हों, न नाराज हों और उसे अपनेमें न मानें। जब हम अलग हैं, तो फिर संकल्प-विकल्प रहें तो क्या, मिटें तो क्या?

श्रोता—मैं चिन्तनसे अलग हूँ—यह भी तो चिन्तन ही हुआ?

स्वामीजी—यह चिन्तन नहीं है, प्रत्युत विवेक है। विवेक अनादि है।

या तो मैं-मेरापन छोड़ दो, या 'हे नाथ! हे नाथ!' कहकर भगवान्‌के हो जाओ। जैसे बच्चा केवल 'माँ-माँ' कहना जानता है, ऐसे ही 'हे नाथ, हे नाथ' कहते रहो। ठीक-बेठीक जो हो, भगवान्‌से कह दो।

क्रिया, चिन्तन और स्थिरतासे अलग होकर चुप हो जाओ, तब अनुभव हो जायगा, नहीं तो बातें सीख जाओगे। मुझे तो सबसे बढ़िया बात यह लगती है कि 'हे मेरे नाथ! हे मेरे नाथ!' कहते रहो।

भगवान्‌से प्रार्थना करनेपर भी संकल्प-विकल्प न मिटे तो इसमें हमारे विश्वासकी कमी है। वास्तवमें मिटे या न मिटे, हमें क्या मतलब? भगवान्‌को कहकर निश्चिन्त हो जाओ।

* * * * * * * * *

जहाँ रहो, वहीं बड़े-बूढ़ोंकी, बीमारकी, दुःखीकी सेवा करो। यह भगवान्‌के मिलनेकी जगह है। इनकी सेवासे भगवान् मिलते हैं।

जो निर्बल होते हैं, वे सबलसे सेवा (रक्षा)-की आशा रखते हैं। यदि आप अपनेसे निर्बल मनुष्योंकी सेवा नहीं करते तो आप अपनेसे सबल मनुष्यसे अपनी रक्षाकी आशा नहीं रख सकते। आप बड़ोंकी सेवा नहीं करेंगे, तो फिर छोटे आपकी सेवा क्यों करेंगे?

निर्बल मनुष्य भलाई नहीं कर सकता तो बुराई भी नहीं कर सकता। कारण कि बिना बलके बुराई नहीं हो सकती। **बुराई होती है—बलका दुरुपयोग करनेसे।**

करना चाहते हैं, कर सकते हैं, पर करते नहीं—यह निर्बलता नहीं है, प्रत्युत भोगोंमें आसक्ति है। करना चाहते हैं, पर कर सकते नहीं तो 'हे नाथ! हे नाथ!' कहकर भगवान्‌को पुकारो और भक्तोंके चरित्र पढ़ो। भगवान्‌की पुकार निरर्थक नहीं जाती।

सच्चे हृदयसे प्रार्थना जब भक्त सच्चा गाय है।
तो भक्तवत्सल कानमें वह पहुँच झट ही जाय है॥

भगवान्‌के साथ किसी भी तरहसे जोड़ा गया सम्बन्ध सदा कल्याण करनेवाला ही होता है।

भगवान् श्वाससे भी सस्ते हैं! श्वास भी लेने पड़ते हैं, पर भगवान् लेने नहीं पड़ते!

*** *** ***

संसारमें लगे हुएको पारमार्थिक चीज नहीं मिलती, पर परमात्मामें लगे हुएको सांसारिक चीज स्वतः मिलती है। संसारमें लगे हुएको परमात्माका ज्ञान नहीं होता, पर परमात्मामें लगे हुएको परमात्माका भी ज्ञान होता है, संसारका भी। वास्तवमें संसारमें लगा हुआ संसारको जानता नहीं। यदि जानता तो अपना पतन, अहित क्यों करता?

सबसे ऊँची सेवा है—किसीको दुःख न देना। वनमें रहनेवाले कोल-किरात आदि कहते हैं—

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥

(मानस, अयोध्या० २५१।२)

—यह मामूली बात नहीं है!

*** *** ***

जैसे भोजनको पचानेकी शक्ति भूखमें है, ऐसे ही अच्छी बातोंको आचरणमें लानेकी शक्ति दुःखमें है। जिसके न होनेका दुःख हो, वह हो जायगा। बातें काममें कैसे आयें—इसकी लालसा तीव्र होनी चाहिये।

जिस वस्तुकी सत्ता है, उसे लेते नहीं और जिस वस्तुकी सत्ता नहीं है, उसे लेना चाहते हैं—यह समस्या है।

कर्मयोगीकी 'कर्मफल' से उपरति होती है। ध्यानयोगीकी 'कर्म' से उपरति होती है। कर्मयोगीकी कर्ममें अभिरति होती है, आसक्ति नहीं—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८।४५)। जैसे ज्ञानयोगीके लिये ज्ञान आवश्यक है, ऐसे ही कर्मयोगीके लिये कर्म आवश्यक है।

*** *** ***

प्रेमकी प्राप्तिमें युक्ति काम नहीं करती, लगन काम करती है।

बुराई न करनेसे हम भले बन जाते हैं। बुराई न करनेमें कोई बल, विद्या, धन आदिकी जरूरत

नहीं है। किसीका बुरा न करें तो शीघ्र कल्याण हो जायगा।

उपकार करनेसे भी बढ़िया चीज है—अपकार न करना। हित करनेकी अपेक्षा भी अहित न करना ऊँची चीज है। किसीका अहित न करनेसे आपका एकदेशीयपना नहीं रहेगा।

किसीको दुःख न पहुँचाना बड़ा पुण्य है। जप, तप, संयम तो राक्षसोंमें भी था, पर किसीको भी दुःख न देना उनमें नहीं था।

*** *** ***

आत्महत्याको अकालमृत्यु कहते हैं। दुर्घटना आदिसे होनेवाली अन्य मृत्युको आकस्मिक मृत्यु कह सकते हैं। **आत्महत्याकी नीयतमात्रसे पाप लगता है।** आत्महत्या एक मनुष्यकी हत्याके समान है। इसके परिणाममें भयंकर दुःख होता है। चरणामृत लेते हैं तो '**अकालमृत्युहरणं.....**' कहते हैं, जिससे ऐसी कुबुद्धि पैदा न हो। सभीको प्रतिदिन गंगाजलका चरणामृत लेना चाहिये।

तत्त्वज्ञान होनेके बाद महापुरुष अपनी आयु दूसरेको दे सकता है। दूसरेको सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिगको होता है, नाबालिगको नहीं। जबतक तत्त्वज्ञान न हो, तबतक सब नाबालिग हैं।

श्रोता—साधु श्रेष्ठ है या गृहस्थ?

स्वामीजी—जो अपने धर्म, कर्तव्यका पालन करता है, वही श्रेष्ठ है, चाहे गृहस्थ हो या साधु। जो जिस जगह हो, वह उसी जगह रहकर अपने कर्तव्यका पालन करे। गीता कहती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

'अपने-अपने कर्ममें प्रीतिपूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मा)-को प्राप्त कर लेता है।'

*** *** ***

प्रेमकी आवश्यकता सब जगह है, पर गृहस्थमें इसकी बड़ी आवश्यकता है। सभी परस्पर प्रेमका बर्ताव करें। अकेला आदमी लड़ नहीं सकता, कम-से-कम दो आदमी चाहिये। परन्तु लड़ाई एक ही आदमी मिटा सकता है।

बुरे भाव आगन्तुक तथा अनित्य होते हैं। क्रोध कभी-कभी आता है, पर शान्ति निरन्तर रहती है। कारण कि मूलमें सब परमात्माके अंश हैं। **स्त्री, पुरुष, साधु, गृहस्थ आदि सब बनावटी (बने हुए) हैं, पर परमात्माका अंश बनावटी नहीं है।** संसार बनावटी है, परमात्मा स्वतः हैं। संसार रह नहीं सकता, परमात्मा जा नहीं सकते।

ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसकी स्थिति, 'है' में न हो। कोई प्राणी 'नहीं' में स्थित कैसे रह सकता है?

खर्चा कम करना हाथकी बात है, पर रुपये ज्यादा पैदा करना हाथकी बात नहीं है। आजकल दशा यह है कि खर्चा तो फालतू करते हैं और रुपये कमानेके लिये पाप, अन्याय करते हैं। न खर्चा अधिक करो, न पाप करो। व्यक्तिगत खर्चा कम करनेसे ही जीवन बढ़िया बनेगा। **व्यक्तिगत खर्चा अधिक करते हो, दान-पुण्य कम करते हो तो उद्धार कैसे होगा?**

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

(जीवन्मुक्तिविवेक २)

'मनुष्य पुण्यका फल (सुख) तो चाहते हैं, पर पुण्य करना नहीं चाहते। वे पापका फल (दुःख) तो नहीं चाहते, पर यत्नपूर्वक पाप करते हैं।

*** *** ***

रामेश्वरम्‌में जल चढ़ानेसे मुक्ति होती है तो मुक्ति क्रियासे नहीं होती, भावसे होती है। सन्त एकनाथजीने प्यासे गधेको जल पिला दिया तो शंकरजी प्रकट हो गये। कल्याण भावसे होता है, जल चढ़ानेसे नहीं। **क्रियाशक्तिसे कल्याण नहीं होता।** भावमें बहुत विशेष, अलौकिक शक्ति है—***'निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो, आये आधे नाम'।***

मनुष्यशरीरसे नीचा नहीं गिरना है—इसका नाम धर्म है। धर्मके साथ सम्बन्ध कल्याणका होना चाहिये, सुखका नहीं। सुखके लिये धर्मका पालन नहीं किया जाता। धर्मका पालन मनुष्यता है।

*** *** ***

यदि परमात्माके समग्ररूपको जान लें तो फिर परमात्मप्राप्तिके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। जैसे, अंग्रेजको अंग्रेजी सीखनी नहीं पड़ती। अंग्रेज बालकको अंग्रेजी भाषा, खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा अपनानेके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता। इसी तरह 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसे समग्र परमात्माको जाननेपर क्या बाकी रहा? क्या अभ्यास बाकी रहा? सब कुछ परमात्मा ही हैं तो फिर किसमें मनको लगायें? किससे मनको हटायें?

*** *** ***

मनुष्य अपनी शक्तिसे निराश हो जाय, तत्त्वसे निराश न हो और भगवान्‌के प्रभाव **(कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः)** को स्वीकार कर ले तो काम हो जायगा। वह भक्त हो जायगा।

संसार पर किसीका भी हक नहीं लगता, पर परमात्मापर सबका हक लगता है।

कामना करनेसे कामना पूरी नहीं होती। कामना पूरी होनेका विधान दूसरा है। कोई कामना पूरी होती है, कोई पूरी नहीं होती। सब कामनाएँ किसीकी भी पूरी नहीं होतीं। कामना पूरी करनेका प्रबन्ध भगवान्‌की तरफसे नहीं है। जब कामना पूरी होती ही नहीं, फिर उसे छोड़नेमें क्या जोर आया? **मनचाही नहीं होती, फिर मनचाही छोड़नेमें क्या कठिनता? जो हमारे मनके प्रतिकूल होता है, वह भगवान्‌के मनके अनुकूल होता है। आज्ञा-पालन करनेमें बड़ी आजादी है, अपनेपर कोई जिम्मेवारी नहीं!**

*** *** ***

परमात्माके समान कोई सुलभ नहीं। यदि वे किसी बल, वस्तु, योग्यता आदिके द्वारा मिलते तो सबको नहीं मिल सकते। **जो सबको नहीं मिल सकता, वह परमात्मा नहीं हो सकता।** परमात्मा सबको मिल सकते हैं, सब समय मिल सकते हैं, सब जगह मिल सकते हैं। जो अपने बेटेसे न मिल सके, वह माँ कैसे हो सकती है?

विनाशीको महत्त्व न दें तो परमात्मप्राप्ति बड़ी सुलभ है। जाने हुए असत्‌का त्याग करो, उसकी आवश्यकता मत समझो। **संसारमें जो भी मिलेगा, वह अन्तमें न मिलनेमें ही जायगा।**

जो भोग और संग्रहमें रुचि रखते हैं, वे परमात्मामें नहीं लग सकते। **भोग और संग्रह मिलें, चाहे न मिलें, पर उनकी रुचि है तो मनुष्य पतनमें जायगा।** मनुष्यके हृदयमें संसारका जितना अधिक आदर होगा, उतना ही वह पतनकी तरफ जायगा।

पुण्य और पाप तो नष्ट होते रहते हैं। उनके नष्ट होनेसे शुद्धि तो आती है, पर मुक्ति नहीं होती। मुक्ति गुणसंग नष्ट होनेसे होती है।

*** *** ***

तत्त्वका ज्ञान, अनुभव स्वाभाविक है। उसमें संसारको मिला देते हैं—यह गलती है। **कुछ भी न मिलायें तो तत्त्वका अनुभव, सहजावस्था स्वाभाविक है।**

परमात्मा और हम माँ-बेटेकी तरह नहीं हैं। माँ और बेटा तो अलग-अलग होते हैं? पर परमात्मा हमसे अलग अथवा दूर नहीं हैं। परमात्मा कभी अप्राप्त हुए ही नहीं। संसार कभी प्राप्त हुआ ही नहीं। परमात्माका योग मुख्य है। संसारका वियोग मुख्य है।

तत्त्वका वर्णन नहीं होता है। वह अनुभवस्वरूप है।

*** *** ***

भगवान् मनुष्यको अपना मित्र मानते हैं। इसलिये उन्होंने मनुष्यकी रचना अपने लिये की है। वे मनुष्यपर शासन नहीं करते, उसे अपना चेला नहीं मानते। उन्होंने शासन करनेके लिये सृष्टि नहीं बनायी।

जब मनुष्य भगवान्‌से कहता है कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ, आप मेरे हो' तो इसे सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं। यह भीतरकी मार्मिक बात है।

आप वस्तु, व्यक्तिको अपना मानते हो तो क्या उनपर आपका वश चलता है? **वस्तुको अपनी माननेसे वह मिट्टी हो जाती है और भगवान्‌की माननेसे वह सोना हो जाती है।**

साधुका काम दण्ड देना नहीं है। साधु प्रार्थना करता है, दण्ड नहीं देता।

*** *** ***

भोगोंकी तरफ आकर्षण असत्य है, अन्तमें उसका नाश ही होता है। परन्तु परमात्माकी तरफ आकर्षण सत्य है, उसका नाश नहीं होता। जड़भरतका भी अन्तमें कल्याण ही हुआ। योगभ्रष्ट भी अन्तमें मुक्त हो जाता है। अतः किसी भी तरहसे भगवान्‌में लग जाओ।

परमात्मामें तल्लीन होनेसे महापुरुषके भीतर वेद प्रकट हो जाते हैं, क्योंकि वेद परमात्माके ही श्वास हैं। उस महापुरुषके वचन, आचरण सब आदर्श होते हैं। वास्तविक बोधवान्‌की वाणीमें विशेष शक्ति होती है।

*** *** ***

सन्तोंके सामने कुछ कहनेमें मुझे संकोच होता है, पर इसलिये कहता हूँ कि अपना पाठ तो सुना सकता हूँ कि मैंने गीताको इस तरह समझा है। गीताके विषयमें कुछ कहना अपनी बुद्धिका परिचय देना है।

गीताका सार है—शरणागति। अपने-आपको सर्वथा सौंप देना शरणागति है। शरणागत होनेपर फिर कुछ करना बाकी नहीं रहता। उसका काम शरण्यको करना पड़ता है, जैसे—बच्चा बीमार होता है तो दवा माँको खानी पड़ती है। जैसे पतिव्रता स्त्रीको पतिके सम्बन्धके लिये कुछ नहीं करना पड़ता, पर पतिके लिये पतिकी आज्ञासे सब कुछ करना पड़ता है, ऐसे ही शरणागतको कुछ नहीं करना पड़ता और सब कुछ करना पड़ता है।

*** *** ***

उद्योग, परिश्रमसे जिसकी प्राप्ति होती है, वह असत् होता है। असत् हमसे दूर है। परन्तु सत्-तत्त्व परमात्मा हमसे दूर नहीं है। उनसे नजदीक कोई वस्तु नहीं है। वे मैं-पनसे भी नजदीक हैं। मैं-पन अपरा प्रकृति है। 'मैं' से भी 'हूँ' नजदीक है। सुषुप्तिमें मैं-पन नहीं रहता, पर स्वयं रहता है।

जीव और ईश्वर एक जातिके हैं, भले ही स्वामी-सेवकका भाव क्यों न हो—***'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलाम को'*** (कवितावली, उत्तर० १०७)। जीव केवल भगवान्‌का अंश है, इसमें मायाका अंश नहीं है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)।

मुक्ति स्वाभाविक है, बन्धन कृत्रिम है। इसलिये एक बार बोध होनेपर फिर मोह (बन्धन) नहीं होता—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव'** (गीता ४।३५)।

जबतक समाधि और व्युत्थान—दोनों होते हैं, तबतक साथमें कारणशरीर (अज्ञान) भी है।

अहम्‌के साथ सम्बन्ध मान रखा है, इसलिये परमात्मा दूर दीखते हैं। जैसे व्यसन छूटते नहीं, ऐसे ही संसारका सम्बन्ध छूटता नहीं। संसारके सम्बन्धको आपने ही पकड़ा है और अब आपके ही द्वारा छूटना कठिन हो रहा है। व्यसनने आपको नहीं पकड़ा है, प्रत्युत आपने ही व्यसनको पकड़ा है। उसे छोड़ना इसलिये कठिन हो रहा है कि आप उससे सुख लेते हैं।

*** *** ***

अहम्‌को मिटानेकी अपेक्षा अहम्‌को बदलना अधिक सुगम है। अतः अहंरूपी अणुको बदल दें कि मैं भगवान्‌का हूँ, संसारका नहीं हूँ। **वास्तवमें हम भगवान्‌के स्वतः हैं, संसारके बने हुए हैं।** जैसे 'मैं गृहस्थ हूँ'—ऐसा माननेपर गृहस्थापना अखण्ड रहता है, ऐसे ही मैं भगवान्‌का हूँ—ऐसा माननेपर भगवान्‌का सम्बन्ध अखण्ड रहेगा। भगवान्‌का होकर भजन करोगे तो भजन असली होगा और संसारका काम नकली होगा—दूसरोंके लिये आदर्श होगा।

'दीक्षा' का तात्पर्य है—बदल जाना। मैं भगवान्‌का हूँ अन्य किसीका नहीं हूँ। यह नया जन्म है। **भगवान्‌का हो जानेपर भक्त 'अच्युतगोत्र' हो जाता है, उसकी जाति नहीं रहती। अगर जातिका अभिमान है तो भगवान्‌का नहीं हुआ।**

शरीर-संसारमें अपनापन रखोगे तो शरीर छूटनेपर भी नहीं छूटेगा। शरीरसे सम्बन्ध बना रहेगा। इसलिये जो छूट रहा है, उसे आप छोड़ दें। आपके छोड़नेपर ही वह वास्तवमें छूटेगा। संसार छूट रहा है—यह कहनेका तात्पर्य है कि इसको छोड़ना सुगम है। आपकी मान्यता ही आपका उद्धार करनेवाली है और मान्यता ही पतन करनेवाली है।

*** *** ***

गुरुका काम है—शिष्यका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध दृढ़ कर देना। गुरुका भाव रहता है कि वह मेरा शिष्य रहे या न रहे, पर उसका हित कैसे हो? चेला बननेमें उतना खतरा नहीं है, पर गुरु बननेमें बड़ा खतरा है।*

जायदाद लेनेमें गुरुकी मुख्यता है, भगवत्प्राप्ति करनेमें शिष्यकी मुख्यता है। गुरुकी इच्छा होगी, तभी जायदाद मिलेगी। शिष्यकी लगन होगी, तभी भगवत्प्राप्ति होगी।

अगर गुरुका देहान्त हो गया, पर उससे हमारी जिज्ञासा पूरी नहीं हुई तो दूसरा गुरु बना ले।

---

* **हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥**
(मानस, उत्तर० ९९।४)

शिष्य बनते हैं कल्याणके लिये। एक घरसे पूरी भिक्षा न मिले तो दूसरे घरमें जाते हैं।

मुझे तो यह बढ़िया लगता है कि गुरु-शिष्यका सम्बन्ध मत जोड़ो और सत्संग करो। भगवान्‌को गुरु मानो और सत्संग करो। गुरु भी तो भगवान्‌के साथ ही सम्बन्ध जोड़ता है। उस सम्बन्धको जाग्रत् करनेके लिये ही यह सत्संग है।

पतिके साधु होनेपर पत्नी विधवा नहीं होती। अतः पत्नीको सुहागके चिन्ह नहीं छोड़ने चाहिये और साधुकी तरह संयमसे रहना चाहिये।

*** *** ***

हम जो कुछ करते हैं, ईश्वरकी मरजीसे करते हैं—यह सर्वथा असत्य बात है। इसमें केश जितनी भी सत्यता नहीं है। सूर्यके प्रकाशमें हम सब कर्म करते हैं, पर सूर्य कर्म नहीं करवाता। जो पहले पाप कराये, फिर उसका दण्ड दे—ऐसा राजा भी नहीं होता, फिर भगवान् कैसे होंगे?

करना (कर्म) और होना (फल)—दोनों अलग-अलग हैं। 'करना' हमारे हाथमें है, 'होना' भगवान्‌के हाथमें है। यदि 'करना' भी भगवान्‌के हाथमें हो तो फिर मनुष्य और पशुमें क्या फर्क हुआ? मनुष्य 'करने' में स्वतन्त्र है, तभी मनुष्यजन्मकी महिमा है। भगवान् गीतामें कहते हैं—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (२।४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं'। करनेमें सावधान रहो, होनेमें प्रसन्न रहो—यह सूत्र है।

भगवान् क्या अपने विधानके विरुद्ध काम करा सकते हैं? क्या राजा चोरी करनेमें सहायता कर सकता है? वह तो दण्ड देगा। जो होता है, उसे भगवान्‌की प्रेरणा मान सकते हैं—'***उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन***' (मानस, उत्तर० ११३।१)।

*** *** ***

सुखदायी-दुःखदायी दोनों परिस्थितियाँ भगवान्‌के मंगलमय विधान हैं। सुखदायी परिस्थितिमें तो हमारी भी इच्छा भी मिली रहती है, पर दुःखदायी परिस्थितिमें शुद्ध भगवान्‌की इच्छा है। दुःखदायी परिस्थितिमें दुःखी करनेकी ताकत है ही नहीं। मनुष्य अपनी मूर्खतासे दुःखी होता है। कर्मका फल केवल सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति देना है। **सुखी-दुःखी, राजी-नाराज होना पशुधर्म है, मनुष्यधर्म नहीं?**

कामनाके अनुसार कर्म करना मनुष्यधर्म नहीं है। मनमें अच्छी-बुरी सभी कामनाएँ आती हैं। क्या आप मनमें आये अनुसार काम करते हैं।

जो मनमें आये, वही करना पागलका काम है, पशुका काम है, मनुष्यका काम नहीं है। कार्य शास्त्र, गुरु आदिके आज्ञानुसार होता है। **अपनी इच्छाके अनुसार (मनमाना) कार्य करनेवाला सन्त कैसे बन सकता है? वह तो साधक भी नहीं बन सकता!**

'***सुमति कुमति सब कें उर रहहीं***' (मानस, सुन्दर० ४०।३)—सुबुद्धि और कुबुद्धि सबके भीतर रहती है। आप कुबुद्धिके अनुसार काम नहीं करते तो आप कामनाका त्याग करते ही हैं।

मनुष्यशरीर अपने कल्याणके लिये ही मिला है। मनुष्यका खास कर्तव्य है—अपना कल्याण करना। अन्य कर्तव्य दो नंबरके हैं। अतः यदि मनुष्य अपने कल्याणमें लग जाय तो उसे कोई भी (गृहत्याग आदि) दोष नहीं लगेगा।

श्रीरामचरितमानसपर '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' लिखा गया हो या नहीं, पर वह '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**'

है ही—इसमें कोई सन्देह नहीं। श्रीरामचरितमानस केवल जीवोंके उद्धारके लिये है।

जो बात अनुभवी सन्तोंसे मिलती है, वह शास्त्रोंमें नहीं मिलती—यह मैंने देखा है। जैसे—मन जड़ है, वह चेतनमें कैसे लगेगा? मन प्रकृतिका अंश है, आप परमात्माके अंश। मन कर्मयोगमें लगेगा, परहितचिन्तनमें लगेगा।

*** *** ***

अज्ञान अनादि होता है। जीव भगवान्‌से कब अलग हुआ? यह अनादि है। जीव रस लेनेके लिये भगवान्‌से अलग हुआ—'**एकाकी न रमते**'। रस लेना छोड़ दे तो एक हो जायगा।

मैं ऐसा मानता हूँ कि संसारका बन्धन, दुःख, आफत, जन्म-मरण मिट जाय। फिर चाहे अद्वैत हो, चाहे द्वैत। जीव-परमात्मा एक हों तो अच्छा, दो हों तो अच्छा।

अन्तिम मत निष्कर्ष होता है, श्रेष्ठ होता है। गीतामें पहले कहे हुए '**तमेव शरणं गच्छ**' की अपेक्षा अन्तमें कहा हुआ '**मामेकं शरणं व्रज**' श्रेष्ठ है (गीता १८।६२, ६६)।

नाशवान्‌की इच्छा ही 'इच्छा' (कामना) होती है। अविनाशीकी इच्छा 'आवश्यकता' होती है। इच्छा पूरी होनेपर इच्छा बढ़ती है, पर आवश्यक वस्तु मिलनेपर इच्छा मिट जाती है। अविनाशीकी आवश्यकता भी नाशवान्‌की इच्छापर टिकी हुई है। नाशवान्‌की इच्छा छोड़ते ही आवश्यकता पूरी हो जाती है। आवश्यकताकी पूर्ति होती ही है और इच्छाकी निवृत्ति होती ही है।

एक ऐसी भी अवस्था है, जब भगवान्‌की भी इच्छा नहीं करते, पर इसको सिद्ध पुरुष ही समझ सकते हैं। हनुमान्‌जीके लिये आया है—'***राम काज करिबे को आतुर***'। वे काम तो करते हैं, पर इच्छा नहीं करते। इसलिये सब उनके ऋणी हो गये।

*** *** ***

मन और संसार एक जातिके हैं। स्वयं और भगवान् एक जातिके हैं। अतः मन भगवान्‌में नहीं लग सकता, प्रत्युत आप स्वयं ही भगवान्‌में लग सकते हैं। मन अमन हो सकता है, मिट सकता है, पर भगवान्‌में नहीं लग सकता। भगवान्‌को स्वयंसे स्वीकार करें, फिर कभी विस्मृति नहीं होगी।

मेरापन अच्छा लगता है, पर यह भार है। मेरापन मिटनेसे हम हल्के हो जाते हैं, निश्चिन्त हो जाते हैं। वह मेरापन भगवान्‌के समर्पण कर दें और हल्के हो जायँ!

संसार-शरीरको मेरा मानते हैं, भगवान्‌को मेरा नहीं मानते—यह मूल भूल है। मूल भूलका सुधार कर लें तो सब ठीक हो जायगा। संसारके अंश शरीरको संसारकी सेवामें लगा दो और भगवान्‌के अंश स्वयंको भगवान्‌में लगा दो। आप स्वयं भगवान्‌में लग जाओगे तो मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ आदि सब कुछ भगवान्‌में लग जायगा। आप स्वयं नहीं लगोगे तो भगवान्‌में न मन लगेगा, न बुद्धि लगेगी, न इन्द्रियाँ लगेंगी, न शरीर लगेगा। ये संसारमें लगेंगे, संसारकी उपासना करेंगे।

भजन स्वयंसे होता है। **शरीरसे क्रिया होगी, भजन नहीं होगा।** आप स्वयं भगवान्‌में लग जाओ तो सब भजन हो जायगा। सब आपके सहायक हो जायँगे। बिना चेला बनाये सब चेला हो जायँगे। आप भगवान्‌में नहीं लगोगे तो सम्बन्धी भी आपके अपने नहीं होंगे।

भूल मिटनेपर फिर पुनः भूल नहीं होती। यदि होती है तो भूल मिटी नहीं है, आवृत हुई है।

*** *** ***

किसी तरह लोग पापोंसे बचें और भगवान्‌में लगें—यह मेरे मनमें रहती है, पर मेरेमें सामर्थ्य नहीं है, क्या करूँ? कहकर मनकी भाप निकाल देता हूँ। मेरी एक धुन है कि कैसे सबका उद्धार हो?

साधुका कर्तव्य है—लोगोंको पापोंसे हटाकर भगवान्‌में लगाना। उसके लिए भजन करानेकी अपेक्षा भी दूसरोंको पापोंसे बचाना उत्तम है। अत: लोगोंको गर्भपातरूप महान् पापसे बचाना साधुमात्रका कर्तव्य है।

यदि सन्तान नहीं चाहते तो संयम रखो। अगर संयम नहीं रख सकते तो गर्भपात मत करो। परिवार-नियोजन और गर्भपातका विधान किसी भी धर्ममें नहीं मिलेगा।

हनुमान्‌जीने हुंकार की तो राक्षसियोंके गर्भ गिर गये, तो यह हनुमान्‌जीने भगवान्‌का काम किया है। भगवान्‌का काम था—पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित करना—***'निसिचर हीन करउँ महि'*** (मानस, अरण्य० ९)। हनुमान्‌जी भगवान्‌का काम करते हैं, क्या आप भगवान्‌का काम करते हैं? हनुमान्‌जीको राक्षसोंका बीज नष्ट करना था।

*** *** ***

पाप करना न चाहते हुए भी मनुष्य 'कामना' के कारण पापोंमें लगता है (गीता ३।३६-३७)। पाप करनेकी इच्छा न हो तो भी भोगोंकी कामना तो है ही! जैसे भोजन भूखके कारण अच्छा लगता है, ऐसे ही **कामनाके कारण भोग अच्छे लगते हैं, अन्यथा भोगोंमें अच्छा लगनेकी ताकत ही नहीं है।** बिना दोषके भोग अच्छे लगते ही नहीं। लोभरूपी दोषके कारण ही धन अच्छा लगता है।

भोग भोगना और संग्रह करना—इन दोमें ही सब पाप, ताप, नरक, रोग आदि भरे पड़े हैं।

बच्चा नहीं चाहते तो गर्भपात न करके उस बच्चेको सन्तोंको दे दो।

मनमें अशान्ति, हलचल हो तो मन लगाकर पन्द्रह-बीस मिनट राम-नामका जप शुरू कर दो तो हलचल मिट जायगी।

सीताजी पर दु:ख क्यों आया? यह शिक्षा देनेके लिये आया कि बहनों! कितना ही दु:ख, कष्ट आ जाय, तुम अपने धर्मको मत छोड़ो!

*** *** ***

संसारसे अलग होनेपर ही संसारका ज्ञान होगा। ज्ञान होनेपर संसारमें रस नहीं आयेगा, वैराग्य हो जायगा। संसारको दु:खालय जाननेवाला संसारमें कैसे फँसेगा? अपना ज्ञान भी संसारसे अलग होनेपर होगा। संसारसे अलग तब होंगे, जब सुख-दु:खको समान समझेंगे।

धर्मका पालन करनेसे वैराग्य होता है—***'धर्म तें बिरति'*** (मानस, अरण्य० १६।१)। धर्मपूर्वक गृहस्थका पालन करनेसे वैराग्य होगा ही—यह नियम है। धर्म है—अपने कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करना—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (गीता १८।४६)। जो कुछ करें, भगवान्‌की पूजा समझकर करें। यह शरीर भी भगवान्‌का है। इसे शुद्ध रखना भी भगवान्‌की पूजा है, सेवा है। फिर ज्ञान, वैराग्य, प्रेम आदि स्वाभाविक होंगे। केवल भगवान्‌के लिये करनेसे सब कर्म विलीन हो जाते हैं—**'यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (गीता ४।२३)।

बन्धन सादि-सान्त है और मुक्ति अनादि-अनन्त है। मुक्ति स्वाभाविक है, बन्धन अस्वाभाविक

है। अस्वाभाविक ही मिटता है। स्वाभाविक ही टिकता है।

चुपचाप बैठे-बैठे विचार करो कि सबका कल्याण कैसे हो? हित कैसे हो? आपका कल्याण तो हो ही जायगा। दूसरेका हित चाहनेसे अपना परमहित होता है।

*** *** ***

जैसे मशीनसे वस्तु बनाकर पैसा कमाया जाता है, ऐसे ही मानवशरीर एक मशीन है, जिससे साधन होता है। **कल्याण शरीरके सदुपयोगसे होता है, शरीरसे नहीं।** महिमा उपयोगकी है, शरीरकी नहीं। मनुष्यशरीरकी महिमा इसलिये है कि उसका सदुपयोग किया जा सकता है, जबकि अन्य शरीरोंसे सदुपयोग नहीं किया जा सकता।

दुःखदायी परिस्थिति भगवान्‌के विधानसे हमारे कल्याणके लिये आती है। अतः उसे मिटानेकी चेष्टा न करके शान्तिपूर्वक सह लें।

सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति साधन-सामग्री है—यह बात शास्त्रोंमें हरेक जगह नहीं मिलती। गीतामें यह बात है, पर जल्दी दीखती नहीं। सत्संगके बाद दीखने लग जाती है। भागवतमें बहुत विचित्र बातें हैं, पर सत्संग किये बिना वे खुलती नहीं।

*** *** ***

घरमें रहनेवाले सभी प्राणी अपनेको सेवक और दूसरेको सेव्य समझें तो सेवा भी सबकी हो जायगी और कल्याण भी सबका हो जायगा।

सुषुप्तिमें संसारसे विमुख होनेका सुख होता है। उस सुखसे भी परमात्माके सम्मुख होनेका सुख विलक्षण है।

इच्छा न रखनेपर पदार्थ खुले आते हैं, इच्छा रखनेपर पदार्थ बँधे हुए आते हैं।

बुद्धिसे आगे कुछ नहीं दीखता, अँधेरा दीखता है—यही कारणशरीर है।

भगवान्‌की प्राप्तिमें पाप, अशुद्ध अन्तःकरण आदि कोई भी बाधा नहीं है। केवल हमारे विश्वासकी कमी है!

*** *** ***

सब पूर्ण है—**'पूर्णमदः पूर्णमिदं०'**। अपूर्णता हमारी बुद्धिमें है। घाटा हमारी अक्लका है। सब अनन्त ही है। अनन्त जीवोंकी मुक्ति हो जाय तो अनन्त ही बाकी रहेगा।

हम अपना कल्याण करनेके सिवाय और कुछ नहीं कर सकते। कल्याणके सिवाय केवल भटक सकते हैं, जन्म-मरणका चक्कर काट सकते हैं। **कल्याण नहीं किया, भगवान्‌की प्राप्ति नहीं की तो कुछ नहीं किया, कुछ नहीं किया, कुछ नहीं किया!** कर्मयोगसे नित्यानन्द, ज्ञानयोगसे निजानन्द और भक्तियोगसे परमानन्द होता है। नित्यानन्द, निजानन्द अथवा परमानन्द नहीं लिया तो क्या लिया?

भगवान्‌के लिये रोना भी साधन है। रोनेसे सांसारिक वस्तु नहीं मिलती, पर भगवान् मिल जाते हैं। केवल भगवान्‌को पुकारनेसे काम हो जायगा।

आपको मिला तो वही है, जो सदा आपके पास रहे, नहीं तो मिला क्या? मनुष्यशरीरमें आकर वह प्राप्त कर ले कि फिर कुछ प्राप्त करना बाकी रहे ही नहीं।

'फिर करेंगे'—ऐसे कल्याण होगा नहीं। कल्याणका काम भविष्यमें छोड़नेका है ही नहीं।

*** *** ***

जैसे परमात्मा स्वाधीन हैं, ऐसे उनकी प्राप्तिका साधन भी स्वाधीन है, किसी परिस्थिति, प्रारब्ध आदिके अधीन नहीं है।

पहले सांसारिक इच्छाके त्यागके लिये परमात्माकी इच्छा करे। जब सांसारिक इच्छा न रहे तो परमात्माकी इच्छाका भी त्याग करके उपराम हो जाय।

अभावमें दुःख नहीं है, प्रत्युत अभावके अनुभवमें दुःख है। अभाव वस्तु मिलनेसे नहीं मिटेगा, विवेक-विचारसे मिटेगा।

जिसकी इच्छा होगी, उसकी पराधीनता, गुलामी होगी ही। एकान्तकी भी इच्छा होगी तो एकान्तकी पराधीनता होगी।

परिचय बढ़ाना साधुके लिये बढ़िया नहीं है। जितने सम्बन्ध जोड़ोगे, उतने ही शंकु (कीलें) हृदयमें गढ़ेंगे*। दत्तात्रेयजी कुँआरी कन्याको गुरु मानकर उससे यह शिक्षा ली कि अकेले ही विचरण करना चाहिये—'**एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव कङ्कणः**' (श्रीमद्भा० ११।९।१०)। वह अपनी विद्या, जानकारी प्रकट न करे। बिना पूछे न बोले। जानता हुआ भी जड़ (मूढ़)-की तरह आचरण करे†।

*** *** ***

स्थिरता और चंचलता—दोनों प्रकृतिमें हैं। परमात्मतत्त्व दोनोंका साक्षी है। यदि स्थिरतासे परमात्माकी प्राप्ति होती तो पत्थर, पहाड़को भी हो जाती।

परमात्मप्राप्ति करके आप संसारका जितना हित, उपकार कर सकते हैं, उतना किसी दान-पुण्य आदिसे नहीं कर सकते। तुलसीदासजी महाराजके द्वारा दुनियाका कितना उपकार हुआ है!

मरनेवालोंके लोकमें रहते हुए आप निश्चिन्त कैसे बैठे हो?

भगवान्‌से एक ही बात माँगो कि 'हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं'।

संसार और भगवान् किसीके साथ पक्षपात नहीं करते। **जानेवालेको जाने दो और रहनेवालेके साथ रहो तो आपको कोई बन्धन है ही नहीं!**

*** *** ***

कल्याण कलकी बात नहीं है, आजकी बात है।

संसारका असर हो जाय—इसका नाम 'मन' है। परमात्माका असर हो जाय—इसका नाम 'साधन' है।

भजन भी करते हैं और विपरीत काम भी, तभी लाभ नहीं दीखता।

भजन करनेसे उतना लाभ नहीं होगा, जितना विपरीत कामके त्यागसे होगा। जबतक आप भजन-ध्यान भी करोगे और दुर्गुण-दुराचार भी करोगे, तबतक इस जीवनमें सिद्धि नहीं होगी,

---

* **यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।**
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥
(विष्णुपुराण १।१७।६६)

† **नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।**
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥
(मनुस्मृति २।११०)

नहीं होगी, नहीं होगी!

संसार कल्पित है, ईश्वर कल्पित नहीं है। जैसे माता-पिता बालकके और बालकके लिये होते हैं, ऐसे ही भगवान् हमारे और हमारे लिये हैं। उनकी प्राप्तिका सीधा उपाय है—द्वन्द्वरहित होना। न राग करे, न द्वेष करे। न बुरा करे, न भला करे, जैसा है वैसा ही चुप हो जाय तो परमात्माकी स्वतः प्राप्ति है। या तो सबको बुरा मानो, या सबको भला मानो। द्वन्द्व नहीं होना चाहिये। सबको बुरा मानोगे तो सबसे उपरति हो जायगी और परमात्मामें स्थिति हो जायगी।

* * * * * * * * *

जो परमात्मामें 'मन' लगाता है, वही चलितमना होनेपर योगभ्रष्ट होता है। परन्तु जो 'स्वयं' लगता है, वह कभी योगभ्रष्ट होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं। ध्यानयोगी योगभ्रष्ट होता है, कर्मयोगी और ज्ञानयोगी योगभ्रष्ट नहीं होते।

गीतामें आया है—'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' (६।२५) 'मन (बुद्धि)-को परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे'। इसका तात्पर्य कि 'सर्वत्र एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही परिपूर्ण है।'—ऐसा विचार करके फिर इस विचारको भी छोड़ दे। **ध्यानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग-ज्ञानयोग तेज हैं*।** अतः ध्यान न करके उपराम हो जाय—'**शनैः शनैरुपरमेद्**' (गीता ६।२५)। कुछ भी चिन्तन करेंगे तो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहेगा। ध्यान विध्यात्मक अर्थात् करणसापेक्ष साधन है।

सगुणके ध्यानकी अपेक्षा अपनापन करना श्रेष्ठ है—गोपियोंकी तरह! तात्पर्य है कि भगवान्‌का ध्यान करनेकी अपेक्षा भगवान्‌को अपना मानना श्रेष्ठ है। अपनापन होनेसे ध्यान अपने-आप होगा। अपने-आप होनेवाला साधन श्रेष्ठ होता है।

दानकी अपेक्षा त्याग श्रेष्ठ है। गीतामें वर्णित दान भी वास्तवमें त्याग ही है—'**दातव्यमिति यद्दानं०**' (गीता १७।२०)। त्याग क्रिया नहीं है, प्रत्युत अपने साथ क्रिया तथा पदार्थका सम्बन्ध-विच्छेद है।

दूसरेको सुखी देखकर प्रसन्न होना और दुःख देकर दुःखी होना एक नंबरकी सेवा है। वस्तुओंसे सेवा करना दो नंबरकी सेवा है। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेवालेको अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना पड़ेगा।

विचारपूर्वक संसारसे उपराम होना 'ज्ञानयोग' है। क्रियापूर्वक संसारसे उपराम होना 'कर्मयोग' है।

* * * * * * * * *

जिसकी जैसी भावना होगी, उसे वैसा ही संसार दीखेगा। एक ही व्यक्ति माँको और तरहसे दीखता है, बेटेको और तरहसे। वह सबको अलग-अलग दीखता है। जिसके राग-द्वेष मिट गये हैं, उसे '**वासुदेवः सर्वम्**' दीखता है। वास्तवमें संसाररूपसे परमात्मा ही हैं।

एक ही मतको पकड़कर साधन करनेसे जल्दी उन्नति नहीं होती—'***मतवादी समझे नहीं ततवादीकी बात***'। सबकी बात सुननेसे साधक जल्दी उन्नति कर सकता है। 'मतवाले' और 'पक्षवाले' का कल्याण नहीं होता। अतः कल्याण चाहनेवाला मतविशेषको न पकड़े।

अपने मतके अनुसार चलनेवाला मतवादी नहीं है, प्रत्युत दूसरेके मतका खण्डन करनेवाला मतवादी

---

* कर्मयोग-ज्ञानयोगकी अपेक्षा भी भक्तियोग तेज है।

है। उसका कल्याण नहीं होगा।

भगवान् मीठे लगें, उनका नाम, रूप, कथा आदि मीठी लगे—यह 'भक्ति' है।

शान्ति चाहते हो तो—'यों होना चाहिये, यों नहीं होना चाहिये'—इसको छोड़ दो। सबको छुट्टी दे दो तो आपकी छुट्टी (मुक्ति) हो जायगी।

*** *** ***

ज्ञानमें अहम् नहीं है, पर 'मैं ज्ञानी हूँ'—इसमें अहम् है। जबतक अहम् है तबतक बन्धन है। सब मतभेद सूक्ष्म अहम्में रहते हैं। इसलिये अपने-अपने सिद्धान्त (मत) को लेकर चलनेपर मुक्ति तो हो जाती है, पर सूक्ष्म अहम् नहीं मिटता।

'ज्ञानी' ज्ञानका भोक्ता होता है। 'प्रेमी' प्रेमका भोक्ता होता है। जबतक भोक्ता है, तबतक अहम् है। अहम्का नाश होनेपर ज्ञान रहता है, ज्ञानी नहीं रहता, प्रेम रहता है, प्रेमी नहीं रहता। गीताके सिद्धान्त **'वासुदेवः सर्वम्'** को माननेवालेमें मतभेद नहीं रहता, क्योंकि 'वासुदेव' में अहम् नहीं है।

'परा प्रकृति' अपरासे सम्बन्ध जोड़ ले तो 'जीव' है, अपरासे सम्बन्ध तोड़ ले तो 'ब्रह्म' है, और परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ ले तो 'प्रेम' है, प्रेमी नहीं।

कुतिया, गधी आदिका बच्चा भी स्वाभाविक ही सबको प्यारा लगता है; क्योंकि उसमें पूरा अज्ञान है। प्रेमी भक्त भी स्वाभाविक ही सबको प्यारा लगता है, क्योंकि उसमें पूरा ज्ञान है।

अहंकाररहित होनेपर जीवन भगवान् रामकी तरह आदर्श हो जायगा।

आचार्योंमें परस्पर मतभेद रहता है तो इससे आगे भी कोई चीज होनी चाहिये, जिसमें सब मत एक हो जाते हों (सब मतभेद समाप्त हो जाते हों)। वह चीज है—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

*** *** ***

शरीरके द्वारा हम सुखी नहीं हो सकते, भले ही वह समाधिका सुख हो। पराधीनतासे होनेवाला पराया सुख सदा साथ कैसे रहेगा? **अंशका सुख 'निजानन्द' और अंशीका सुख 'परमानन्द' है।** परमानन्द निजानन्दसे विलक्षण है। 'स्व' की अपेक्षा 'स्वकीय' का सुख विलक्षण है। ***'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥'*** (मानस, बाल० २१६।३)—इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मसुख (निजानन्द)-से भी परमानन्द विशेष है। भागवतमें भी आता है कि तुलसीकी गंधसे ब्रह्मसुखमें मग्न सनकादिकोंका भी मन विचलित हो गया!

*** *** ***

भेद साधनोंमें होता है, साध्यमें नहीं। एक ही साध्य-तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अनेक साधन है, अनेक सम्प्रदाय हैं। **साधनोंका भेद भले ही हो, पर प्रीतिका भेद नहीं होना चाहिये।** प्रीतिका भेद होना बड़ी गलती है। आपसमें मतभेद होनेसे द्वेष पैदा होता है और हम साध्यकी प्राप्तिसे वंचित हो जाते हैं। इसलिये सम्प्रदायका भेद हो, पर प्रेमका भेद न हो। **प्रेमकी एकता होनेपर साधनकी सिद्धि जल्दी होगी।** साधन, सम्प्रदाय, गुरुका भेद दोष नहीं है, प्रीतिकी भिन्नता दोषी है। किसी भी साधकके साथ लेशमात्र भी द्वेषभाव न हो। **दूसरे साधकके प्रति द्वेषवृत्ति अपने साधनकी सिद्धिमें बाधक है।**

मुझे भक्ति सबसे बढ़िया, सबसे श्रेष्ठ मालूम देती है।

भक्तियोग बहुत कोमल है। यह राग-द्वेष सह नहीं सकता, छिन्न-भिन्न हो जाता है।

*** *** ***

'वासुदेवः सर्वम्'—यह स्वीकृति है, अभ्यास नहीं। समझी हुई बात श्रेष्ठ नहीं होती, पोली होती है। परन्तु मानी हुई बात श्रेष्ठ, दृढ़ होती है। मेरा विवाह हो गया—यह मान लिया है, समझा नहीं है। यह मान्यता इतनी दृढ़ होती है कि कभी छूटती नहीं। समझनेसे सन्तोष तो अधिक होता है, पर भीतरकी दृढ़ता कम होती है।

ज्ञानमार्गमें समझना बढ़िया है, भक्तिमार्गमें मानना बढ़िया है।

जो नास्तिक हो और जिज्ञासु भी हो कि जाने बिना मानूँगा नहीं, उसे जल्दी ज्ञान होता है। परन्तु ढीले-ढाले नास्तिकको जल्दी ज्ञान नहीं होता।

*** *** ***

शरीरमें मैं-मेरापन न होनेसे पीड़ाका ज्ञान तो होता है, पर दुःख नहीं होता। दुःख होता है मैं-मेरापन होनेसे। मरनेके बाद पीड़ाका भी ज्ञान नहीं होता, क्योंकि प्राणोंका वियोग हो गया। मैं-मेरापन, सांसारिक सुख-दुःख मिटानेके लिये ही सत्संग है।

सुखकी आशा, कामना और भोग हो तो दुःख होगा ही—यह नियम है। सुख तो थोड़ा होगा, पर दुःख बहुत ज्यादा होगा। **अगर दुःख नहीं चाहते हो तो सुख मत भोगो।**

*** *** ***

हमारी स्वाभाविक रुचि किसकी है? संसारकी या परमात्माकी?—यह पहचाननेकी बड़ी आवश्यकता है। रुचिको बदल लो तो सब बदल जायगा। परमात्माकी रुचि होनेसे भोग, संग्रह, आराम आदिकी रुचि नहीं रहती। रुचि बदलनेमें हम पराधीन नहीं हैं। **वर्षोंतक साधन, सत्संग करनेपर भी लाभ नहीं हुआ तो इसका कारण है कि हमने अपनी रुचिको नहीं बदला।**

अगर हमारा उद्देश्य सिद्ध होता हो तो प्रतिकूलता सहनेमें क्या हर्ज है? रातभर गाड़ीमें भीड़के बीच खड़े रहें तो भी एक प्रसन्नता होती है कि घर तो पहुँच जायँगे!

अपनी सुख-सुविधाको देखनेवाला योगी नहीं होता, भोगी होता है।

*** *** ***

विवेक काम न करे तो भगवान्‌को पुकारो। भगवान् कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि सब कुछ दे देंगे। भगवान्‌की कृपासे जो काम होगा, वह पुस्तकोंसे, विचारसे, गुरुसे भी नहीं होगा।

असत् ही बोलता और सुनता है। सत् न बोलता है, न सुनता है, क्योंकि सत्‌में ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ हैं ही नहीं। अतः सत्‌में बोलने और सुननेकी शक्ति नहीं है।

हम जिससे अपने मनकी बात मनवाते हैं, उससे ममता नहीं छूटती। अतः **जिससे ममता छोड़नी हो, उससे अपने मनकी बात मत करवाओ, प्रत्युत उसके मनकी बात करो।** हाँ, उसके मनकी बात शास्त्र, लोक-मर्यादा, धर्मके अनुसार हो और हमारी सामर्थ्यके अनुकूल हो।

*** *** ***

हम रेलवेके कर्मचारी हों अथवा बैंक आदिके कर्मचारी हों, पर बापके होते हुए हैं। क्या रेलवे आदिके कर्मचारी होनेपर हम बापके नहीं रहे? बापके तो हम हैं ही। ऐसे हम भगवान्‌के होते हुए ही गृहस्थ, साधु आदि हैं। हम कैसे ही हों, भगवान्‌के तो हैं ही।

जैसे जल समुद्रसे निकलनेके बाद फिर कहीं भी ठहरता नहीं, अन्तमें समुद्रमें मिलकर ही ठहरता

है, ऐसे ही जीव भी भगवान्‌से अलग होकर कहीं टिकता नहीं। भगवान्‌से मिलकर ही टिकता है।

*** *** ***

सब बातें व्यवहारमें लानेकी नहीं होती। लायी हुई बात बढ़िया नहीं होती। कुछ बातें समझनेकी होती हैं, कुछ स्वीकार करनेकी। फिर व्यवहारमें वे स्वतः आती हैं। विवेकको दृढ़ करना है, व्यवहारमें क्या लाना? शरीर और हम अलग-अलग हैं—इस विवेकको दृढ़ करें, इसे व्यवहारमें क्या लाना है? अन्न-जल शरीरको चाहिये, स्वयंको नहीं।

रामरक्षास्तोत्र, हनुमानचालीसा, सुन्दरकाण्डका पाठ करनेसे अनिष्ट मन्त्रोंका असर नहीं होता। परन्तु इसमें बलाबल काम करेगा। तात्पर्य है कि अभिचार कर्म प्रबल होगा और हमारे पाठका बल उससे कम होगा तो अभिचार कर्म नष्ट नहीं होगा। परन्तु हमारा पाठ प्रबल होगा और अभिचार कर्मका बल उससे कम होगा तो अभिचार कर्म नष्ट हो जायगा। इसमें प्रारब्धका भी सम्बन्ध रहेगा। यदि अभिचार कर्मके साथ हमारा प्रारब्ध न हो तो उसका असर तत्काल न होकर देरीसे होगा। यदि हमारा प्रारब्ध भी अभिचार कर्मके साथ हो तो वह तत्काल असर करेगा। आजकल कलियुगमें अभिचार मन्त्र जल्दी सिद्ध होते हैं, उसमें कलियुग सहायता करता है। जिस वस्तुपर पेशाब लगा हो, उसपर मुसलमानी मन्त्र काम नहीं करता, फेल हो जाता है।

*** *** ***

अन्तःकरणमें विषयोंका जो गहरा रस बैठा हुआ है, वह प्रेमाभक्तिसे नष्ट होता है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९।३)

विषयोंका, अज्ञानका कुछ अंश रहते हुए भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु प्राप्ति होनेपर वह सर्वथा मिट जाता है—**'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २।५९)।

संसारमें परमात्मा हैं, पर परमात्मामें संसार नहीं है।

आचार्योंमें जो मतभेद है, वह समयके अनुसार है और भगवान्‌की इच्छासे है। परन्तु **'वासुदेवः सर्वम्'** में आते ही वह मतभेद नहीं रहता।

*** *** ***

अपनेको भगवान्‌का मान लो, फिर अपने-आप सन्त बन जाओगे। सुधारकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर रहेगी।

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(मानस, किष्किन्धा० ७।५)

भगवान् किसीको चेला नहीं बनाते। वे अपने समान बनाते हैं अपनेसे छोटा नहीं बनाते। हनुमान्‌जी भगवान्‌के दास थे, पर उनको भी भगवान् 'भाई' कहते हैं—***'तुम मम प्रिय भरतहि सम भाई'।***

*** *** ***

साधनकी सिद्धि तब होती है, जब साधनमें तल्लीनता हो। तल्लीनता तब होती है, जब अहंता बदल जाय।

देहाभिमान चाहे ब्राह्मणका हो, चाहे मेहतरका हो, वह परमात्मप्राप्तिमें समान बाधक है।

जैसे विवाहिता स्त्रीको पीहरकी याद आ जाय तो वह पीहरकी (कुँआरी) नहीं हो जाती,

ऐसे ही हम भगवान्‌के हो गये तो अब भले ही संसारकी याद आ जाय, याद आनेसे हम संसारके थोड़े ही हो जायँगे!

*** *** ***

भगवान् श्रीकृष्ण मात्र जगत्‌के गुरु हैं—**'कृष्णं वन्दे जगद्‌गुरुम्'**। अतः वे हमारे भी गुरु हैं, क्योंकि हम जगत्‌के भीतर हैं। जीव जहाँ निश्चय करे, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं। शक्ति भावमें है, क्रियामें नहीं। प्रह्लादजीके भावसे भगवान् खम्भेमेंसे प्रकट हो गये।

गुरु वह है, जो शिष्यका कल्याण कर दे। दूसरेका कल्याण वही कर सकता है, जिसने अपना कल्याण कर लिया है। परन्तु दूसरेका कल्याण करनेकी योग्यता भी विरलेमें ही होती है। **तत्त्वज्ञ महापुरुष दूसरेको भी ज्ञान करा दे—यह नियम नहीं है।** जानकार व्यक्ति भी दूसरेको अपनी बात समझा नहीं सकते।

*** *** ***

जिसमें ज्ञान हो, वह 'चेतन' है। जिसमें ज्ञान न हो, वह 'जड़' है। जड़ जानता नहीं, पर जाननेमें आता है। चलने-फिरनेवालेका नाम चेतन नहीं है। मोटर चलती है, पर वह चेतन नहीं है।

जितने भी योग हैं, उस सबमें गीताका योग सर्वश्रेष्ठ है। वस्तु-व्यक्तिके आने-जानेका हमारेपर असर न पड़े? हमें सुख-दुःख न हो—इसका नाम 'योग' है, और असर पड़ जाय—इसका नाम 'भोग' है।

कीर्तनमात्रसे कल्याण होता है। सत्संगकी बातें काममें आयें या न आयें, पर कीर्तनसे जबर्दस्ती लाभ हो ही जायगा, इतनी पूँजी आपके पास हो ही जायगी—इसी विचारसे मैंने कीर्तनका आरम्भ किया है।

*** *** ***

संसार और परमात्माकी अलग-अलग रीति है। संसार न चाहनेसे आता है, परमात्मा चाहनेसे आते हैं। संसारको अलग होकर जान सकते हैं, परमात्माको अभिन्न होकर जान सकते हैं। संसारकी प्राप्तिमें प्रारब्धकी मुख्यता है, परमात्माकी प्राप्तिमें लगनकी मुख्यता है।

आप उसीको देना चाहते हैं, जो कुछ लेना नहीं चाहता। लोभी व्यक्तिको आप देना नहीं चाहते। माँगनेवालेकी बातका हमारेपर असर नहीं पड़ता। ज्यादा चाहनेवालेको क्या ज्यादा मिल जाता है? इसलिये आप चाहनाका त्याग कर दें। **चाहना न करनेपर भी मिलनेवाली वस्तु मिलेगी ही। माँगना अपनी फजीती करना है।**

चोरी करनेपर भी मिलनेवाला धन ही मिलेगा, न मिलनेवाला नहीं मिलेगा। चोरीसे मिला हुआ धन उसके काम नहीं आयेगा। उसके काम तो पाप आयेगा।

जो वस्तुकी इच्छा करता है, वस्तुका दुरुपयोग करता है और वस्तुका संग्रह करता है, उसके पास आनेसे वस्तु डरती है। जो अन्नका दुरुपयोग करता है, जूठन छोड़ता है, उसको अन्न नहीं मिलेगा।

*** *** ***

अन्य ग्रन्थोंमें मुमुक्षा मुख्य है, पर गीतामें जिज्ञासा मुख्य है। अन्तःकरण अशुद्ध होनेपर तत्त्वज्ञान नहीं होता—ऐसा नियम नहीं है। **मुक्तिमें अन्तःकरणका सम्बन्ध नहीं है।** करणका सम्बन्ध पदार्थ

और क्रियासे है। क्रियाकी सिद्धिमें करण हेतु है। पर परमात्मा क्रियासे अतीत हैं।

*** *** ***

भगवान् जैसा रूप बनाते हैं, वैसी ही लीला करते हैं। वे मूर्ति बनते हैं तो मूर्ति ही बनकर अचल रहते हैं। भगवान्‌ने कृष्णावतारमें अपना ऐश्वर्य अधिक प्रकट किया, पर रामावतारमें कम ऐश्वर्य प्रकट किया।

भगवान् और सन्त-महात्मा विशेष श्रद्धालु, अनन्यभक्तके सामने ही प्रकट होते हैं। वे हरेकके सामने प्रकट नहीं होते, गुप्त रहते हैं।

आप श्रद्धा-प्रेमसे सुनते हैं तो मेरे भीतर विशेष बातें पैदा होती हैं, और आपके लिये पैदा होती हैं। जनानेवाले तो भगवान् हैं, और हम निमित्त बनकर मुफ्तमें कल्याणके भागी होते हैं।

रामजीके वियोगमें सीताजी जितनी व्याकुल हो सकती थीं, उतने ही रामजी सीताजीके वियोगमें व्याकुल होते हैं। इसी तरह रामजीके वियोगमें लक्ष्मणजी जितने व्याकुल हो सकते थे, उतने ही रामजी लक्ष्मणजीके वियोगमें व्याकुल होते हैं।

*** *** ***

यदि परमात्मप्राप्ति चाहते हैं तो हरदम साधन होना चाहिये। हरदम साधन कैसे हो? हरेक काम करते समय यह याद रखें कि मैं भगवान्‌का ही काम करता हूँ। यह नामजपसे कम नहीं है*। यह बहुत बड़ा भजन है। जैसे फल वृक्षके साथ जुड़ा रहता है, ऐसे ही हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ हर समय जुड़ा रहना चाहिये।

साधन वही होता है, जो निरन्तर होता है। निरन्तर भगवान्‌का काम करनेसे भगवान्‌की याद स्वतः रहेगी।

भगवान्‌को अपनापन जितना प्रिय है, उतना त्याग, तपस्या आदि भी प्रिय नहीं है।

*** *** ***

परमात्मतत्त्व तो विद्यमान है ही, केवल संसारका निषेध करना है।

शरीर और हम दो हैं—यह वेदान्तकी ऊँची-से-ऊँची बात है। काम-क्रोधादि दोष न अपनेमें हैं, न शरीरमें हैं। ये तभी हैं, जब आप शरीरके साथ मिल जाते हैं—'**देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति**'।

श्रोता—मैं शरीरसे अलग हूँ—ऐसी स्वीकृति न हो तो क्या उपाय है?

स्वामीजी—उपाय है—लगन। इसे जाने बिना चैन न पड़े। दूसरा उपाय है—दूसरोंको सुख पहुँचाओ। भाव रखो कि उनको सुख कैसे मिले? आप किंचिन्मात्र भी अपना सुख मत चाहो।

शरीरके साथ, परिवारके साथ हमारा सम्बन्ध माना हुआ है, है नहीं—इतनी बात समझमें आ जाय तो बहुत काम हो गया।

---

* **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि सत्।**
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

*** *** ***

जिस निष्ठामें गुरुजी हैं, उसी निष्ठामें अपनेको तल्लीन कर देना 'गुरुनिष्ठा' है।

सन्त 'स्वभाव' होता है, गृहस्थ या साधु नहीं होता।

यह नियम है कि जहाँ स्वार्थ और अभिमान आ जाता है, वहाँ अशुद्धि आ जाती है। गुरुकी बड़ी महिमा है, पर आजकल स्वार्थ और अभिमान आ जानेसे वह महिमा नहीं रही। जहाँ स्वार्थ और अभिमान होगा, वहाँ हमारा कल्याण नहीं हो सकता। अतः मेरी सम्मति यह है कि गुरु-शिष्यका सम्बन्ध न जोड़कर सत्संग करो और अच्छी बातें ग्रहण करो।

मुझे कई कहते हैं कि हम तो आपको ही जानते हैं, भगवान्‌को नहीं जानते। यह मुझे बहुत बुरा लगता है! यह मुझे स्वीकार्य नहीं है। यह बड़े भारी अनर्थकी बात है!

कोई भगवान्‌का दर्शन करानेकी बात कहता है तो इसमें कोरी ठगाई है। **अगर कोई कह दे कि चेला बननेपर मैं भगवान्‌के दर्शन करा दूँगा तो मैं चेला बननेको तैयार हूँ।**

वास्तवमें आपकी ही लगन, लालसा, मान्यता, श्रद्धा आपका कल्याण करेगी, गुरु कल्याण नहीं करेगा। गीताने साफ कहा है—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६।५) 'अपने द्वारा अपना उद्धार करे'।

*** *** ***

मनुष्यजन्म दूसरोंके हितके लिये है। दूसरोंके हितसे अपना हित स्वतः होता है।

सन्तोंका यह स्वभाव होता है कि उनको अपनेमें कोई गुण नहीं दीखता, जबकि उनमें कोई दोष नहीं रहता।

श्रीरामचरितमानस बहुत विलक्षण ग्रन्थ है। **दूसरे लोकोंमें भी इसका पाठ होता है। इसका पाठ करनेसे बुद्धि विकसित होती है, भीतरसे विचित्र-विचित्र भाव पैदा होते हैं!** कम-से-कम नौ दोहा प्रतिदिन रामायणका पाठ करना चाहिये।

रामायणमें भक्त और भगवान्—दोनों मिल गये हैं। यह भक्तकी वाणी है और भगवान्‌की लीला!

भक्त कहते हैं कि भगवान् बड़े हैं और भगवान् कहते हैं कि भक्त बड़े हैं, पर भीतरमें दोनों एक हैं!

*** *** ***

परमात्मा अद्वितीय हैं; अतः उनकी अभिलाषा भी अद्वितीय होनी चाहिये। इसका उपाय है—हरदम नामजप करो और बार-बार प्रार्थना करो कि हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं।

चित्त एकाग्र होनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी चित्तकी शुद्धिकी है। चित्तकी शुद्धि है—कोई अशुद्ध संकल्प न हो।

मन एकाग्र करना हो तो यह उपाय करें। मनसे राम-नाम लें और मनसे ही उसकी गिनती करें। इस रीतिसे सौ नाम-जप करें। बीचमें भूल हो जाय तो पुनः एकसे आरम्भ करें।

*** *** ***

शिक्षा देनेवालोंकी, सन्त-महात्माओंकी कमी नहीं है, प्रत्युत हमारी लगनकी कमी है। कोई अच्छा गुरु मिलेगा तो हमारा उद्धार होगा—यह बात मनसे निकाल दो। केवल आपकी लगन चाहिये।

गुरुसे लिये बिना मन्त्र, भगवन्नामका असर नहीं होता—यह प्रचार उनका किया हुआ है, जिनको

गुरु बननेका शौक है। जिन्होंने गुरु-मन्त्र लिया है, उन सबको मन्त्र-जपसे लाभ हो गया क्या?

जो गुरु नहीं बनाये, वह यदि निगुरा है तो फिर जो गुरुकी बात नहीं मानता, उसको क्या कहेंगे?

मैं वे बातें बताता हूँ, जो गुरु भी शायद ही बता सकें!

अगर गुरुको छोड़नेसे पाप लगता हो तो वह पाप मुझे स्वीकार है। वह पाप मुझे दे दो और आप निर्मल हो जाओ। वास्तवमें गुरुको छोड़नेसे पाप लगता नहीं—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥

(महाभारत, उद्योग० १७८।४८)

'यदि गुरु भी घमण्डमें आकर कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान खो बैठे और कुमार्गपर चलने लगे तो उसका भी त्याग कर देनेका विधान है।'

भगवान्‌के पास, माँके पास जानेमें किसी दलालकी जरूरत नहीं है।*

*** *** ***

धर्म-पालनमें कष्ट सहना पड़ता है। सुख-आराम चाहें तो धर्मका पालन कैसे होगा? भूख सहन नहीं कर सकें तो एकादशीव्रत कैसे होगा? मनुष्यका उद्देश्य अपना कल्याण करनेका है।

विवाह करना मनुष्यका उद्देश्य नहीं है। विवाह करना है संयमके लिये। विचारपूर्वक भोगोंका त्याग न कर सकें तो करके देखनेके लिये विवाह है। मनुष्यशरीरकी महिमा संयमसे है। शारीरिक उन्नति भी संयमसे है। सुखभोगके लिये स्त्री है ही नहीं। रामजीने स्त्रीका आदर करनेके लिये युद्ध किया, न कि सुखभोगके लिये।

जिसका मन कहीं लगता नहीं, मनमें अशान्ति रहती है, वे ही 'काम' के वशीभूत होते हैं। भजन करनेवाले, भगवान्‌में लगे हुए, वैराग्यवान् पुरुष काममें नहीं लगते।

भोग ऊँचे नहीं हैं, उनका त्याग ऊँचा है। त्याग मनुष्य ही कर सकता है। मनुष्य ही त्याग नहीं करेगा तो कौन करेगा?

*** *** ***

परमात्माका जीवमात्रके साथ स्वतन्त्र सम्बन्ध है, चाहे वह किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, जाति आदिका क्यों न हो। अतः गृहस्थमें रहते हुए परमात्मप्राप्ति करनेमें क्या बाधा लगती है? भगवान्‌ने गृहस्थमें रहते हुए परमात्मप्राप्ति करनेका बहुत सुगम उपाय बताया है—अपने-अपने कर्तव्य-कर्मसे भगवान्‌का पूजन करना—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (गीता १८।४६)।

*** *** ***

विचार करें, क्या परमात्माकी प्राप्ति करणके द्वारा होती है? करण तो क्रियाकी सिद्धिमें हेतु होता है। अन्तःकरणकी शुद्धि परमात्मप्राप्तिमें हेतु नहीं है। मैं अन्तःकरणकी शुद्धिका निषेध नहीं करता हूँ, प्रत्युत उसे परमात्मप्राप्तिमें हेतु नहीं मानता। अन्तःकरण शुद्ध न होनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती—यह बात ठीक नहीं बैठती।

क्रिया जड़में होती है, चेतनमें नहीं। परमात्माकी प्राप्ति जड़के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़के

---

* यह विषय विस्तारसे समझना हो तो गीताप्रेस (गोरखपुर)-से प्रकाशित '**क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?**' पुस्तक पढ़नी चाहिये।

त्यागसे होती है। 'कर्ता' शुद्ध होना चाहिये अर्थात् कर्तामें लगन होनी चाहिये। सदन कसाई, बिल्वमंगल, अजामिल आदिको भगवान् मिल गये तो क्या उनका अन्तःकरण शुद्ध था? गजेन्द्र और द्रौपदीने क्या अन्तःकरण शुद्ध किया था? उनको भगवान् मिले कि नहीं मिले? द्रौपदीके मनमें कौरवोंके प्रति द्वेषभाव था तो क्या उसका अन्तःकरण शुद्ध था? पर उसके बुलानेसे भगवान् आ जाते थे। **परमात्मप्राप्तिमें अपनी लगन चाहिये। वह लगन अशुद्ध अन्तःकरणवालेमें भी लग सकती है।**

*** *** ***

धीरे-धीरे प्राप्ति संसारकी होती है। भगवान्‌की प्राप्ति तत्काल होती है। भगवान्‌के बिना रहा न जाय तो अन्तःकरण अशुद्ध होनेपर भी उनकी प्राप्ति हो जायगी। बालकको माँ क्या अन्तःकरण शुद्ध होनेपर मिलती है? भगवान्‌के लिये रो पड़ें तो भगवान् मिल जायँगे। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे ही प्राप्ति होती है—यह नियम नहीं है। भगवान् करणको नहीं मिलते, प्रत्युत स्वयंको मिलते हैं।

संसारकी प्राप्तिमें तो इच्छा, क्रिया और प्रारब्ध—तीनों होने चाहिये, पर भगवान्‌की प्राप्तिमें केवल इच्छा होनी चाहिये।

*** *** ***

इसको परमात्मप्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसका अन्तःकरण अशुद्ध है—ऐसा कहना उसी तरह है, जैसे कोई कहे कि इसको दिखायी नहीं दे सकता; क्योंकि इसका कान खराब है! कान खराब हो तो सुनायी कम देगा, पर दीखेगा कम कैसे? कानसे दीखता है या आँखसे दीखता है? कान कैसा ही हो, आँखसे दीख जायगा।

परमात्मप्राप्ति करणसाध्य नहीं है। करण क्रियाकी सिद्धिमें हेतु है, तत्त्वज्ञानमें हेतु नहीं है। करण वहाँ पहुँचता ही नहीं। **भगवान्‌की प्राप्ति खुदकी व्याकुलतासे होती है।** प्राप्ति खुदको होती है, करणको नहीं। सूरदासजीको आँखोंसे दीखता नहीं था, पर उनको भगवान् दीख गये।

सब करणोंमें बुद्धि तेज है। बुद्धिसे तेज कोई करण नहीं। परमात्मप्राप्ति बुद्धिको नहीं होगी, प्रत्युत जो कहता है कि 'बुद्धि मेरी है', उसको होगी। बोध स्वरूपका होता है और स्वरूप बुद्धिसे परे है—**'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** (गीता ३।४२)। बुद्धि शुद्ध होनेसे परमात्मप्राप्तिका निश्चय होगा। सीढ़ियोंसे छतपर जाते हैं, पर छतपर सीढ़ियाँ नहीं हैं। सीढ़ियाँ पीछे छूट जाती हैं।

उत्कट अभिलाषा हो जाय तो आप कैसे ही हों, प्राप्ति हो जायगी।

अन्तःकरण-शुद्धिकी भी बड़ी भारी आवश्यकता है, उसका मैं निषेध नहीं करता हूँ।

*** *** ***

आप समयका ठीक सदुपयोग करें तो आपकी समयपर, कालपर विजय हो जायगी।

हम पदार्थोंको चाहते हैं, पर पदार्थ हमें नहीं चाहते। परन्तु हम परमात्माको चाहते हैं तो परमात्मा भी हमें चाहते हैं। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति जल्दी होती है। **भगवान्‌ने मानवशरीर दे दिया तो मानो अपनी प्राप्तिका निमन्त्रण दे दिया।**

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४।११)—इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई भगवान्‌से विमुख हो जाय तो भगवान् भी उससे विमुख हो जायँगे। भगवान् कभी किसीसे विमुख होते ही नहीं।

पाप करके जीनेकी अपेक्षा पाप न करके (निर्मल रहते हुए) मर जाना श्रेष्ठ है। पाप करनेसे

धन मिल ही जायगा—यह नियम नहीं है।

वनवासी लोग रामजीसे कहते हैं कि हम रात-दिन पाप करते हैं, तो भी हमें न वस्त्र मिलता है, न भरपेट भोजन—

पाप करत निसि बासर जाहीं। नहि पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥

(मानस, अयोध्या० २५१। ३)

*** *** ***

अगर मरनेसे डर लगता है तो हमने मनुष्यजन्ममें करनेयोग्य काम नहीं किया है। यदि मनुष्यजन्ममें करनेयोग्य काम कर लें तो मृत्युसे डर नहीं लगेगा।

गुरुकी प्रसन्नतासे जो विद्या आती है, वह अपने उद्योगसे नहीं आती। गुरुकी प्रसन्नतासे विद्या फलीभूत होती है।

'मैं श्रेष्ठ बनूँ'—यह भाव तो विद्यार्थीमें होना चाहिये, पर 'दूसरा श्रेष्ठ न बने'—यह भाव नहीं होना चाहिये। भाव यह होना चाहिये कि दूसरा मेरेसे भी श्रेष्ठ बने, जिससे मुझे उससे भी श्रेष्ठ बननेका मौका मिले।

*** *** ***

पारमार्थिक काममें लगनेसे लाभ ही होता है, हानि नहीं। जैसे परीक्षाके दिनोंमें रात-दिन पढ़ाई करनेपर भी अन्य सांसारिक कार्य रुकते नहीं, चलते रहते हैं, ऐसे ही भजन-ध्यानमें ज्यादा समय लगानेपर भी कोई बाधा नहीं आती।

सांसारिक उन्नति तो धीरे-धीरे होती है, पर आध्यात्मिक उन्नति जल्दी होती है। दोनोंका कायदा अलग-अलग है। स्वभाव सुधारनेमें देरी लगती है, पर तत्त्वकी प्राप्तिमें देरी नहीं लगती। तत्त्व 'है'-रूपसे नित्यप्राप्त है। नित्यप्राप्तिकी प्राप्तिमें देरी क्या?

पहले प्रकाश (दिखानेवाला) दीखता है, पीछे पदार्थ (दीखनेवाला) दीखता है। पदार्थ मिट जाते हैं, पर प्रकाश (ज्ञान) नहीं मिटता।

जिसके भीतर लालसा नहीं है, वह भगवान्‌को देखते हुए भी नहीं देखता। संसारका ग्राहक होनेसे संसार ही दीखता है, परमात्मा नहीं। भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं, पर भगवान् लालसा होनेसे दीखते हैं।

एक 'शरीर' होता है, एक 'भावशरीर' होता है। मैं साधक हूँ, मैं योगी हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ—यह भावशरीर है। मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ—यह जबतक रहेगा, तबतक साधक शरीरमें रहेगा, भावशरीरमें नहीं जायगा। जबतक भावशरीरमें नहीं जायगा, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होगा। **भावशरीरके बिना तत्त्वको नहीं जान सकते।**

*** *** ***

उत्कट अभिलाषा होनेसे सभी साधन सुगम हो जाते हैं।

जीवका जल्दी उद्धार हो जाय—ऐसी बात केवल हिन्दू संस्कृतिमें ही है।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त वस्तुएँ हैं, पर कोई भी वस्तु हमारी और हमारे लिये नहीं है। वे ब्रह्माण्ड जिनके रोम-रोममें स्थित हैं, वे परमात्मा ही हमारे हैं।

भगवान् गुरु, शासक अथवा राजा नहीं बनते। वे सब कुछ बन जायँगे, पर दूसरेको अपना मातहत

(गुलाम) नहीं बनायेंगे। वे दूसरेको मित्र ही बनाते हैं। उन्होंने वानरोंको भी अपना मित्र बनाया। भगवान् राम राजा भी बने थे, पर ऐसी बात इतिहासमें किसी राजाने प्रजासे नहीं कही कि अगर मैं कोई अनुचित बात कहूँ तो भय छोड़कर मुझे रोक देना—

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

(मानस, उत्तर० ४३। ३)

भगवान् कल्पवृक्षके समान इच्छापूर्ति करनेवाले होते हुए भी वैसे नहीं हैं, जिससे किसीकी हानि या अहित हो जाय। भगवान् यदि नाराज भी हो जायँ तो उनसे कम लाभ नहीं होगा। वे रावणपर नाराज हुए तो उन्हें अपना परमपद दे दिया। उनका क्रोध भी वरके समान है—**'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'** (पाण्डवगीता)। **भगवान्‌से और सन्तोंसे किसीका अहित नहीं होता।** ऐसा स्वभाव भगवान्‌में तो स्वतःसिद्ध है और सन्तोंमें भगवान्‌से आता है।

*** *** ***

भगवान्‌की तरफसे तो उनके साथ हमारा सम्बन्ध अटल है, उसे भगवान् भी नहीं तोड़ सकते। सम्बन्धमें मुख्यता भगवान्‌की ही है। मुख्य सम्बन्ध सेठका होता है, कर्मचारीका नहीं। भगवान्‌को सभी प्यारे लगते हैं—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २)। **हम भगवान्‌को प्यारे लगें—इससे बढ़कर और हमें क्या चाहिये?** हम भगवान्‌के साथ अपनापन कर लें तो भगवान् बड़े राजी होंगे। **केवल भगवान्‌को अपना माननेसे बड़ी सुगमतासे कल्याण हो सकता है।**

*** *** ***

माफी सदा भगवान्‌से ही होती है। माफी माँगना और माफ करना—दोनोंकी ताकत हरेकमें नहीं होती। कोई सच्चे हृदयसे माफी माँगे तो भगवान् माफ करते हैं। माफी दण्डसे बचनेके लिये नहीं माँगनी है, प्रत्युत दूसरेके हृदयमें शान्ति हो, हलचल न रहे—इसलिये माँगनी है।

भगवान्‌के भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंके भक्त होते हैं। जैसे, पतिव्रता स्त्री पतिके नाते सम्पूर्ण कुटुम्बको अपना मानती है, वायसराय सरकारका भी सेवक होता है, जनताका भी सेवक होता है। **हमारा प्रभुके नाते सबके साथ सम्बन्ध हो, स्वतन्त्र सम्बन्ध किसीके साथ न हो।**

*** *** ***

विष्णु, शंकर, गणेश, सूर्य और देवी—ये पाँचों एक ही हैं। विष्णुकी बुद्धि 'गणेश' हैं, अहम् 'शंकर' हैं, नेत्र 'सूर्य' हैं और शक्ति 'देवी' है। राम और कृष्ण विष्णुके अन्तर्गत ही हैं। साधकको कोई एक इष्ट स्थापित करना चाहिये। **एक ही सिद्धान्त, एक ही इष्ट, एक ही मन्त्र, एक ही माला, एक ही आसन और एक ही समय हो तो जल्दी सिद्धि होती है।** जिसमें हमारी स्वाभाविक रुचि होती है, वही साधन सिद्ध होता है।

अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताको देखकर ही साधन करना चाहिये। इनके बिना, केवल गुरुके कहनेपर साधन करनेपर जल्दी सिद्धि नहीं होती। **कोई साधन ठीक न बैठे तो रात-दिन नामजप करो। फिर सब ठीक हो जायगा।**

साधन तो सभी कल्याण करनेवाले हैं, पर अपनी रुचि, श्रद्धा और योग्यता होनी चाहिये। जो साधन करें, मनमें वह साधन सर्वोपरि जँचना चाहिये। नामजप और प्रार्थना सबके लिये बढ़िया है। अपने कल्याणकी जोरदार इच्छा होनी चाहिये। भोजन तो कोई दे देगा, पर भूख तो खुदकी चाहिये। इसलिये अपनी भूख (लगन) बढ़ाओ। आपकी सच्ची लगन होगी तो गुरु, सन्त, सत्संग सब मिल

जायँगे।

राम और शिव—दोनों अच्छे लगते हों तो रामको इष्ट मानो और शिवको गुरु मानो।

*** *** ***

जो महात्मा मिले हैं, उनसे लाभ ले लो तो आगे उनसे श्रेष्ठ महात्मा मिल जायँगे। भगवान् सबसे बड़े गुरु हैं। वे कक्षा बदल देंगे।

वास्तवमें भजन बहुत होता ही नहीं। जितना करें, उतना ही कम है!

शरीर हमारी क्या सहायता करेगा? क्या अनित्य नित्यकी सहायता कर सकता है?

जिस गतिसे आप साधन कर रहे हैं उस गतिसे कल्याण कब होगा?—विचार करें। जीवनका भरोसा नहीं है। शरीर चला गया तो? बीमारी आ गयी तो? भाव बदल गया तो? पागलपन आ गया तो?

विचार करो कि अपना कौन है? अगर अभी मृत्यु आ जाय तो कोई सहायता कर सकता है?

*** *** ***

अपना शरीर, अपनी स्त्री—ये चीजें देनेकी नहीं होतीं। अतः मृत्यूपरान्त अपने शरीरका कोई अंग नहीं देना चाहिये। यह बात शास्त्रके सिद्धान्तसे समझमें आती है। अपनी आयु देना, अपना अंग देना जीवन्मुक्तका ही अधिकार है, हरेकका अधिकार नहीं।

व्यवहारमें समता लाना पशुता है। दूसरेको सुख पहुँचाने और उसका दुःख दूर करनेमें समता होनी चाहिये।

भगवान्‌का होकर नाम लेनेका जो माहात्म्य है, उतना केवल नाम लेनेका नहीं। भगवान्‌का होकर नाम लेनेका विशेष माहात्म्य है।

*** *** ***

नींद बाकी रही हो, भोजन अधिक किया हो, अजीर्ण रोग हो, ज्यादा परिश्रम किया हो, भजनमें रुचि कम हो—इन कारणोंसे भजन-स्मरण करते समय नींद आती है। भोजन करते समय नींद नहीं आती, पर भजन करते समय नींद आती है तो आपने भजनको आवश्यक नहीं समझा। **यदि भजनमें रुचि तेज हो तो अन्य कारणोंके होते हुए भी नींद नहीं आती।**

कर्तव्य-पालनसे वैराग्य होता है, उपरामता होती है। भजन करना कर्तव्य नहीं है। यह खुदकी आवश्यकता है, खुदकी भूख है। भजनके बिना रहा न जाय।

ईश्वर कैसा है—यह विचार तो तब करें, जब हम उसे छोड़ सकें। जब हम उसे छोड़ ही नहीं सकते तो फिर वह कैसा ही हो, उससे हमें क्या मतलब?

केवल ब्याजसे अपनी जीविका चलाना ठीक नहीं है।

शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं, मेरे लिये नहीं—यह साधकोंके लिये खास बात है। शरीरका स्वभाव बदलनेका है। **शरीर दूसरा हो जाता है, पर शरीरी दूसरा नहीं होता।** अनन्त ब्रह्मा बीत जायँ तो भी शरीरी ज्यों-का-त्यों रहेगा।

*** *** ***

आजकल प्रायः सीखी हुई बात मानते हैं, अनुभवकी तरफ ख्याल नहीं करते। अन्तःकरणकी

शुद्धिको मैं बहुत आवश्यक मानता हूँ। परन्तु तत्त्वज्ञान क्या करणके द्वारा होता है? यह मेरा प्रश्न है।

परमात्माकी प्राप्ति केवल लगनसे होती है, उसमें क्रिया और प्रारब्ध (भाग्य) की जरूरत नहीं है। कारण यह है कि परमात्मा नित्यप्राप्त है। नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें उद्योग काम नहीं करता।

वर्तमानमें नामजपकी ऋतु आयी हुई है। वर्षाऋतुमें खेती बढ़िया होती है। नामजप सस्ता मिलता है, मँहगा बिकता है। नामजपमें समय तो सत्ययुगके अनुसार लगता है, पर फल मिलता है कलियुगके अनुसार। आप नामजपका स्वभाव बना लें।

गया समय फिर मिलेगा नहीं, पर जो समय हाथमें है, उसे अच्छे-से-अच्छे काममें लगाओ। जबतक थोड़ी भी रस्सी हाथमें है, कुएँसे जल निकाल सकते हैं, पर रस्सी हाथसे निकल गयी तो?

*** *** ***

दूसरेको भगवान्‌में लगानेके समान कोई पुण्य नहीं है। **दूसरेको भोजन दोगे तो उसे पुनः भूख लग जायगी, पर भगवान्‌में लगा दोगे तो अनन्त जन्मोंकी भूख मिट जायगी।**

मेरे देखते-देखते समय बहुत गिर गया है। वर्षा जैसे पहले होती थी, वैसी अब नहीं होती। सज्जनोंकी सज्जनता वैसी नहीं रही। माता-पिताका, गुरुजनोंका वैसा आदर नहीं रहा। स्त्री-पुरुषोंमें स्वार्थकी भावना अधिक बढ़ गयी है। भारतमें स्वतन्त्रता नहीं, उल्टे पहलेसे ज्यादा गुलामी आ गयी है।

स्त्रियोंके लिये शालग्राम, शिवलिंग और हनुमानजीका स्पर्श करनेकी विधि नहीं है, प्रत्युत निषेध है। विधि और चीज है, प्रेम और चीज है।

घरमें वास्तुशास्त्रका दोष लगता ही है। परन्तु जो भजन करते हैं, उनपर दोषका असर नहीं होता। हरेक वस्तुका अपनी-अपनी जगह महत्त्व है।

सेवा करनेमें पहला नम्बर घरवालोंका है। परन्तु आज घरवालोंकी सेवा करके बाहर जाकर दूसरोंकी सेवा करते हैं, क्योंकि बाहर मान-आदर मिलता है। यह वास्तवमें सेवा नहीं है। ऐसा करनेवाले 'स्वयंसेवक' हैं अर्थात् अपनी ही सेवा करनेवाले हैं।

*** *** ***

शरीर और शरीरीको अलग-अलग जानें तो बहुत लाभ होगा। **हमारे साथ शरीर आदि कुछ भी नहीं है—इस प्रकार अपने अकेलेपनका अनुभव करें।** भजन स्वयंसे होता है, शरीरसे नहीं।

सगुणकी प्राप्तिमें 'भाव' की और निर्गुणकी प्राप्तिमें 'विवेक' की प्रधानता है। विश्वासके योग्य केवल परमात्मा हैं। शरीर-संसार विश्वासके योग्य हैं ही नहीं।

जो सच्चे हृदयसे परमात्मामें लग जाता है, उसके द्वारा दुनियाका भी बड़ा हित होता है और अपना भी।

बहुत-सी बातें जान (सीख) लेनेपर तत्त्वज्ञानमें बाधा लग जाती है।

साधकके लिये खास ध्यान देनेकी बात है—साधनमें कमी न रखना। साधन है—जड़ताका त्याग। **साधनमें ध्यान दें, सिद्धिकी चिन्ता न करें।**

*** *** ***

कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें हमें तृप्त करनेवाली कोई चीज नहीं है। परमात्माका अंश परमात्मासे ही तृप्त होगा। संसारमें किसी वस्तु-व्यक्तिकी ताकत नहीं, जो हमें तृप्ति दे, शान्ति दे, हमारी पूर्ति कर

दे, हमारी कमी दूर कर दे। शान्ति मिलेगी भगवान्‌के भजनसे। गुरु मिलनेसे भी लाभ नहीं होगा, एक नयी आफत हो जायगी।

अग्निसे अलग होनेपर ही कोयला काला है। अग्निसे जुड़नेपर कोयला उज्जवल हो जाता है। चमकते हुए कोयलेसे भी लकीर खींचें तो काली ही खिंचेगी। ऐसे ही परमात्मासे अलग होनेपर सब काली लकीर है।

भगवान्‌को अपना मान लो तो फिर संसारकी गुलामी, गरज नहीं करनी पड़ेगी? प्रत्युत संसार ही आपकी गरज करेगा।

*** *** ***

परा, अपरा और परमात्मा—तीनों वास्तवमें एक ही हैं। परन्तु इनमें राग-द्वेष करके द्वैधीभाव करनेसे जन्म-मरण होता है।

'कर्मयोग' का पालन उदार व्यक्ति कर सकता है, कृपण नहीं। उदार व्यक्तिमें दो चीजें होनी चाहिये—करुणा और सुहृत्ता।

'मनुष्य' कहनेका तात्पर्य है कि सब मनुकी संतान होनेसे एक हैं। ऐसे ही जीव सब एक हैं। प्रकृतिका कार्य सब एक है। परमात्मा भी एक ही हैं। सब एक हैं—यह 'ज्ञान' है।

अगर भाँग आदिको शिवजीका प्रसाद मानते हो तो असली प्रसाद तो जहर है, जो उन्होंने पीया था। पीनेसे जो बच जाय, वह प्रसाद ही होता है। व्यसनमें पराधीनता है। भोजनके बाद सौंफ लेनेकी आदत भी व्यसन है, पराधीनता है। सिगरेट पीनेवाले दूसरोंको अपना जूठा धुआँ पिलाकर कितना दु:ख देते हैं! दूसरोंको दु:ख देनेके समान कोई पाप नहीं है—***'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई'*** (मानस, उत्तर० ४१।१)। नशा करना मनुष्यता नहीं है।

अपना कोई है तो केवल भगवान् हैं। मनुष्यके सिवाय किसीमें भी ताकत नहीं कि भगवान्‌को 'मेरा' कह दे। **मनुष्य ही भगवान्‌को अपना मान सकता है।**

*** *** ***

विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और देवी—ये पाँच ईश्वर कोटिके देवता हैं, जिनसे पाँच सम्प्रदाय चले हैं। ये पाँचों तत्त्वसे एक ही हैं। **एक होनेपर भी अपने इष्टको सबसे बड़ा मानना चाहिये।** जैसे, स्त्रीका अपना पति ही परमेश्वर है, दूसरेका पति नहीं। बड़ा-छोटा न होनेपर भी अपने इष्टको बड़ा मानना चाहिये।

भगवान्‌का कौन-सा रूप अच्छा है?—इसकी परीक्षा न करके अपनी परीक्षा करें कि हमें कौन-सा रूप अच्छा लगता है? प्रिय लगना ही असली भजन है। जो प्रिय लगे, वही इष्ट है। अगर कोई इष्ट न जँचे तो राम-राम करना शुरू कर दो। राम-राम को ही इष्ट मान लो। फिर सब ठीक बैठ जायगा। गजेन्द्रने किसीका नाम नहीं लिया, 'कोई एक ईश्वर' कहकर पुकारा तो भगवान् आ गये।

*** *** ***

श्रोता—गायत्री-मन्त्रमें सबका अधिकार क्यों नहीं है?

स्वामीजी—गायत्री-मन्त्रका जप करना ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये एक टैक्स है, कोई बड़ी बात नहीं है। हम भी गायत्री-मन्त्रका जप करेंगे, हम क्यों पीछे रहें?—यह कोरा अभिमान

है। अभिमानसे कल्याण नहीं होता। गायत्री- मन्त्रका जप और वेदोंका पाठ करनेसे हम बड़े नहीं हो जायँगे, केवल अभिमान बढ़ जायगा।

एक ब्राह्मणने मुझे अपना अनुभव बताया कि गायत्री-मन्त्रका जप करनेसे अभिमान आता है, स्वभावमें तेजी आती है, शाप देनेकी सामर्थ्य आती है। परन्तु भगवन्नाम-जपसे नम्रता आती है। इसलिये नामजप करनेवाले नम्र स्वभाववाले हुए हैं।

यदि अपना कल्याण चाहते हो तो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलो।

*** *** ***

जो आपसे कुछ चाहता है, वह आपका गुरु कैसे हुआ? गुरु वह होता है, जिसके भीतर यह लगन होती है कि शिष्यका कल्याण कैसे हो? पहले वह शिष्यका कल्याण करता है, फिर वह गुरु होता है। जैसे, पहले पुत्र उत्पन्न होता है, फिर व्यक्ति पिता बनता है। पुत्र हुए बिना पिता कैसे हुआ? शिष्यका कल्याण हुए बिना गुरु कैसे हुआ?

यदि पैसे ले लिये, भेंट-पूजा ले ली, पर उद्धार नहीं किया तो अगले जन्ममें वह गुरु कुत्ता बनेगा और चेले चींचड़ बनकर उसका खून चूसेंगे।

चेला बनानेका अधिकार उसीको है, जो उद्धार करनेकी शक्ति रखता हो।

गुरु बनानेसे बड़ी आफत हो जायगी। गुरु खुद तो हमारा कल्याण कर सकेगा नहीं और दूसरी जगह जाने देगा नहीं, फिर क्या दशा होगी!

*** *** ***

कभी किसीको किंचिन्मात्र भी कष्ट न हो—यह भाव उपकारके भावसे भी ऊँचा है। उपकार, हित करनेमें स्वार्थका, कृपणताका भाव आ सकता है। अतः यह भाव रहे कि किसीका अहित न हो। यह '**सर्वभूतहिते रताः**' का मूल है।

सेवा अपने घरसे शुरू करें। **जो घरमें सेवा नहीं कर सकता, वह बाहर भी सेवा नहीं कर सकता।** वह मान-बड़ाईका भूखा है। घरसे सेवा क्यों शुरू करें? क्योंकि घरवालोंसे सुख लिया है, सेवा ली है। उनको सुख देकर कर्जा उतारो। माँके उपकारसे कोई उऋण हो ही नहीं सकता। **पहले कर्जा उतारो, फिर दान-पुण्य करो। ईमानदार आदमी पहले कर्जा उतारता है।**

सेवाका मौका मिल जाय तो समझें भाग्य खुल गया। उत्सव मनाना चाहिये। सुमित्राजी लक्ष्मणजीसे कहती हैं—***'तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं'*** (मानस, अयोध्या० ७५। २)। बड़े भाग्यसे सेवाका मौका मिला है। ***'राम काज करिबे को आतुर'***—यह शिक्षा है कि सेवा कैसे करनी चाहिये।

*** *** ***

जिसमें इच्छा नहीं होती, उसे कोई कमी नहीं रहती। परन्तु इच्छावालेको सदा घाटा ही रहता है।

संसारकी प्रवृत्ति रोकनेसे परमात्माकी तरफ गति अपने-आप होती है।

हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं—इस प्रकार भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ज्ञानी और भक्तके सब लक्षण अपने-आप आ जायँगे।

प्रेमके भोक्ता भगवान् हैं। निष्कामभावसे यदि कुत्तेसे भी प्रेम करें तो वह भगवान्‌तक पहुँचता है।

सबकी सेवा करनेके लिये यदि गृहस्थ संग्रह करे तो उसमें कोई दोष नहीं है। सेवा करना गृहस्थका विशेष धर्म है।

*** *** ***

योग तीन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन तीनों योगोंका गहरा तात्पर्य यह है कि मनुष्य संसारके लिये, अपने लिये और भगवान् शंकरके लिये उपयोगी हो जाय। मनुष्यमें यह सामर्थ्य तथा योग्यता है कि वह अपना उद्धार भी कर सकता है और जगत् तथा परमात्माको प्रसन्न भी कर सकता है। मनुष्य भगवान्‌की भी भूखको मिटा सकता है। भगवान् प्रेमके भूखे हैं, क्योंकि वे प्रेमके तत्त्वको जाननेवाले हैं।

*** *** ***

साधनमें जबर्दस्ती करनेसे सिद्धि नहीं होती। साधन वह करें, जो सुगमतापूर्वक हो। **साधन स्वतः होना चाहिये।** करनेसे जल्दी सिद्धि नहीं होती। असाधनका त्याग करनेसे साधन अपने-आप होगा। **साधन करनेकी उतनी मुख्यता नहीं है, जितनी असाधनके त्यागकी मुख्यता है, आवश्यकता है।**

'चुप-साधन' करनेका साधन नहीं है, प्रत्युत होनेका साधन है। चुप-साधन तब होगा, जब कुछ करने, बोलने, सुनने आदिकी इच्छा न रहे। करनेसे चुप साधन नहीं होता, नहीं होता। चुप-साधन किया नहीं जाता। करनेसे कर्तृत्वाभिमान होगा। करना, होना और है—यह साधनकी श्रेणी अथवा अवस्था है। चुप-साधन 'करने' की अवस्थामें नहीं होता, प्रत्युत 'होने' की अवस्थामें होता है।

असाधन क्या है? असाधन है—आसुरी सम्पत्ति। सर्वप्रथम काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरी सम्पत्तिका त्याग करें। काम-क्रोधादिके वशीभूत होकर कोई क्रिया न करें। काम-क्रोध-लोभके त्यागकी बड़ी आवश्यकता है। यह असाधन है। असाधनका त्याग होनेपर ही चुप-साधन होगा। इतना ही नहीं, साधन करनेकी रुचि भी जब छूटेगी, तब चुप-साधन होगा।

संसारकी रुचि छूट गयी और परमात्माकी प्राप्ति हुई नहीं, तब चुप-साधन होता है। वृत्तिने संसारको तो छोड़ दिया और परमात्माको पकड़ नहीं सकी, तब चुप-साधन होता है।

'चुप-साधन' कहो, चाहे 'न करना' कहो, एक ही बात है। कबतक करना है? जबतक संसारसे वैराग्य न हो जाय—**'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता'** (श्रीमद्भा० ११।२०।९)।

संसारकी कुछ भी इच्छा 'काम' है। संसारमें कोई भी वस्तु सुन्दर लगती है, अच्छी लगती है तो यह 'काम' है। जितनी भी अशान्ति होती है, सब संसारके सम्बन्धसे होती है। संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे कभी शान्ति नहीं मिलेगी।

क्रिया और पदार्थका सम्बन्ध न रहे तो परमात्मामें स्थिति स्वतः है। क्रिया और पदार्थका राग, आकर्षण ही परमात्मामें स्थितिका अनुभव नहीं होने देता।

जो सुगमतासे हो, वह साधन करो। जबर्दस्ती साधन मत करो।

*** *** ***

मनुष्य जिस साधनमें लगा हो, उससे छुड़वाना नहीं चाहिये। किसीकी गुरु या गुरुमन्त्रमें श्रद्धा न रहे तो भी मैं यह कहनेसे डरता हूँ कि उसे छोड़ दो। प्रत्युत मैं यह कहता हूँ कि रोज गुरुमन्त्रकी एक माला जप लो, फिर इष्ट मंत्रका जप करो। मूर्तिपूजाका खण्डन करनेवालोंसे यह बड़ी हानि हुई है कि शास्त्र आदिसे श्रद्धा तो हटा दी, पर नया पकड़ा सके नहीं। पहला छोड़ दो और नया पकड़े नहीं तो क्या दशा होगी? गीतामें कहा है—**'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।**

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥' (गीता ३। २६) 'तत्त्वज्ञ महापुरुष कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करे, प्रत्युत स्वयं समस्त कर्मोंको अच्छी तरहसे करता हुआ उनसे भी वैसे ही कर्म करवाये'।

*** *** ***

नाशवान्‌के आकर्षण (रुचि)-में ही आसुरी सम्पत्ति है। अविनाशीके आकर्षणमें ही दैवी सम्पत्ति है।

काम-क्रोधादि बुद्धिके धर्म हैं—यह बात ठीक नहीं है। यह बात आधुनिक वेदान्तके ग्रन्थोंमें आती है। गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—इन वेदान्तके मूल ग्रन्थोंमें यह बात नहीं है।

जो गुरु अपनेमें श्रद्धा कराता है, वह बड़ी हानि करता है। जो अपनेमें लगाता है, वह कालनेमि होता है। **जो अपनेसे सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे भी घोर अन्याय करते हैं।** विवाहमें ब्राह्मण कन्याका वरके साथ सम्बन्ध जोड़ता है, न कि अपने साथ। इसी तरह गुरुको चेलेका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़ना चाहिये, न कि अपने साथ। **इसलिये आप भगवान्‌में लगो। व्यक्तिमें लगनेसे लाभ नहीं है।**

*** *** ***

कोई कण ऐसा नहीं, जिसमें भगवान् न हों परन्तु आप कणको अपना मानते हैं, भगवान्‌को अपना नहीं मानते।

भगवान्‌में अपने-आपको लगाओ, मनको नहीं। मनको संसारकी सेवामें लगाओ। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम्—सबको संसारकी सेवामें लगाओ। मन आपका नहीं है, फिर 'मन भगवान्‌में नहीं लगता'—यह चिन्ता क्यों करते हो? शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी संसारके साथ एकता है और स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है।

संसार लेनेवाला है, देनेवाला नहीं। परन्तु भगवान् देनेवाले हैं। वे अपने-आपको दे देते हैं। संसारकी सेवा करना 'योग' है और उससे अपनी मनचाही करना 'भोग' है।

शरीरको अपना समझकर साधन करनेसे कामना कभी मिटेगी नहीं। शरीर अपना नहीं तो फिर कामना कैसे होगी? शरीर हमारा है ही नहीं, फिर त्याग क्या करना है? शरीरमें अपनापन आपका बनाया हुआ है। वास्तवमें भगवान् अपने हैं।

जो इच्छा नहीं करता, उसको प्रकृति स्वतः देती है। इच्छा करनेसे वस्तुकी प्राप्तिमें बाधा लगेगी, वस्तु बड़ी मेहनतसे मिलेगी। आप कहते हैं कि हमारी इच्छा पूरी नहीं हुई, हम बड़े अभागे हैं। वास्तवमें आप इच्छा करते हैं, इसलिये अभागे हैं। जो कोई इच्छा करता ही नहीं, वह अभागा कैसे रहेगा?

एक सन्तरेकी एकता होती है, एक खरबूजेकी एकता। सन्तरा बाहरसे एक दीखता है, पर भीतरसे अलग-अलग होता है। खरबूजा बाहरसे (रेखाओंके कारण) अलग-अलग दीखता है, पर भीतरसे एक होता है। **आजकलकी एकता सन्तरेकी एकता है, पर पुरानी एकता खरबूजेकी एकता थी।** व्यवहारमें सब अलग-अलग थे, पर सुख-दुःखमें सब एक थे।

*** *** ***

यथार्थ बात मिटती नहीं। शरीर मेरा है—यह झूठी बात भी भीतर बैठ गयी, फिर सच्ची बात क्या नहीं बैठेगी? चिपकाई हुई बात कितने दिन टिकेगी? भगवान्‌ने कहा है—

जौं पे दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई॥

(मानस, सुन्दर० ४४। २)

यदि आप दुष्टहृदय होते तो क्या सत्संगमें आ सकते थे? आ गये तो सब भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं। अशुद्ध अन्त:करणवाला यहाँ सत्संगमें आ सकता ही नहीं। अत: आपका अन्त:करण अशुद्ध नहीं है।

भगवान्‌को अपना माननेके सिवाय और कोई प्रेमका उपाय नहीं है। व्रत, तप, अनुष्ठान आदिसे प्रेम नहीं होता।

शरीर और संसार एक हैं, स्वयं और भगवान् एक हैं। अब करना क्या है? संसारकी सेवा करनी है। पूर्णता हो जायगी। आपका अन्त:करण शुद्ध है। यदि अशुद्ध होता तो उपर्युक्त बात जँचती ही नहीं। आप असमर्थ, अयोग्य, अपात्र नहीं हो। अगर आप अपने पाप मानते हों, अपनेको पापी मानते हों तो विचार करें कि बलवान् कौन है? **पाप बलवान् है कि भगवान् बलवान् हैं? क्या पाप भगवान्‌को अटका सकते हैं?** केवल आपका विचार होना चाहिये कि हमें भगवत्प्राप्ति करनी है। मुझे यहाँ (ऋषिकेश) आते हुए लगभग साठ वर्ष हो गये, पर मैं नीलकण्ठ गया ही नहीं, जानेकी इच्छा ही नहीं हुई तो क्या नीलकण्ठ जाना बड़ा कठिन है? ऐसे ही आपने परमात्मप्राप्तिको कठिन मान रखा है। यह तभीतक कठिन है, जबतक सत्संग नहीं मिलता।

ईश्वरका अंश जीव 'अमल' (विकाररहित) है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

ईश्वरका अंश झूठा और विकार सच्चे हैं क्या? यदि नहीं तो फिर विकारोंसे क्यों डरते हो? भगवान्‌ने भी कहा है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। अपनी मान्यताको छोड़कर भगवान्‌की मान्यताको मान लो। आपकी मान्यता ठीक है या भगवान्‌की? सच्ची बात मान लो। उसमें सन्देह मत करो। उसकी परीक्षा मत करो। जमीनसे बार-बार आमकी गुठली निकालकर देखें तो क्या गुठली उग जायगी? आम लग जायँगे? परीक्षा करोगे तो यही दशा होगी।

*** *** ***

किसीका जी मत दुखाओ। इससे साधनमें बड़ी बाधा लगती है। संसारमात्र एक है। परा और अपरा—दोनों भगवान्‌की ही शक्तियाँ होनेसे भगवान्‌से अभिन्न हैं। **सबकी एकताका ज्ञान होनेसे राग-द्वेष नहीं होंगे।** जैसे, शरीरमें एकता होनेसे शरीरके अंगोंमें राग-द्वेष नहीं होते। दाँतोंसे जीभ कटनेपर दाँतोंको नहीं तोड़ते। ऐसे ही सब मनुष्य एक हैं। अत: किसीके भी साथ द्वेष या वैर नहीं होना चाहिये। जैसे अपना मुँह धोनेसे अभिमान नहीं होता, ऐसे सबकी सेवा करनेसे अभिमान नहीं होना चाहिये। सबके प्रति प्रेम होना चाहिये। सबका हित करना चाहिये। जैसे, रामजीने सबके साथ यथायोग्य व्यवहार किया, पर अहित शत्रुका भी नहीं किया—***'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा'*** (मानस, अयोध्या० १८३। ३)। किसीको दण्ड भी दिया तो उसके हितके लिये, अपने स्वार्थके लिये नहीं।

*** *** ***

जड़ वस्तुको अपना मानना गुणोंका संग है, जिससे जन्म-मरण होते हैं, पाप होते हैं—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। इसलिये एक सन्तने कहा है कि वस्तुको अपना

मानकर देनेके समान कोई पाप नहीं है। आप परमात्माके अंश हो, अतः चेतन वस्तु ही आपकी हो सकती है। जड़ वस्तु आपकी कैसे हो सकती है? परमात्मा और स्वरूप—इन दोके सिवाय और आपका क्या हो सकता है? नहीं हो सकता।

*** *** ***

सब शास्त्र एवं उपदेश अज्ञानियोंके लिये हैं, परमात्माके लिये अथवा तत्त्वज्ञ महापुरुषके लिये नहीं।

हम स्वयं ही अपना उद्धार कर सकते हैं—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६।५)। दूसरा हमारा उद्धार कर सकता ही नहीं।

गुरु बननेवाले अपने स्वार्थके लिये गुरु बनते हैं। अच्छे महात्मा शिष्य नहीं बनाते। जिसे चेला चाहिये, वह चेलादास होता है। शिष्य बननेवालोंका दोष नहीं, गुरु बननेवालेका दोष है। जब दूसरेका कल्याण करनेकी ताकत नहीं, तो फिर शिष्य क्यों बनाया? गुरु क्यों बना? गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़ना बड़ा खतरनाक है।

वक्ता श्रोताका ऋणी होता है।

जिससे नरकोंमें जायँ, वही रिवाज कलियुगमें चलती है।

*** *** ***

नेत्रदान करना हो तो जीते-जी करो, मरनेपर नहीं। जबतक शरीरको जलाया न जाय, तबतक शरीरमें कोई छेड़छाड़ करेंगे तो उसका चिह्न अगले जन्ममें भी रहेगा। जीवका शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, तभी उसकी हड्डियोंको गंगामें डालनेसे उसकी गति होती है। तत्त्वज्ञान, मुक्ति हुए बिना शरीरके सम्बन्धका त्याग नहीं होता।

बालिगको ही शरीर अथवा उसका कोई अंग देनेका अधिकार है, नाबालिगको नहीं। मनुष्य परमात्मप्राप्ति होनेपर बालिग होता है। जबतक परमात्मप्राप्ति न हो, तबतक सब नाबालिग हैं। शवका अंग तो कभी नहीं काटना चाहिये।

उसी मृतात्माकी अधिक याद आती है, जिसका हमारेपर ऋण है। **उससे जितना सुख-आराम लिया है, उससे अधिक सुख-आराम उसे न दिया जाय तबतक उसका ऋण रहता है।** जबतक ऋण रहेगा, तबतक उसकी याद आती रहेगी। उसके निमित्त गरीब बालकोंको मिठायी खिलानी चाहिये। इससे शोक भी मिटता है।

*** *** ***

जिसमें मान-आदरकी इच्छा है, वह शरीरका भक्त है। जिसमें बड़ाईकी इच्छा है, वह नामका भक्त है*। वह भगवान्‌का भक्त कैसे हुआ?

भजन शरीरसे नहीं, भावसे होता है। शरीर तो टेपरिकार्डरकी तरह एक मशीन है। टेप चलानेसे क्या भजन होगा?

आप कहते हैं कि देखे बिना भगवान्‌को कैसे मानें, तो क्या 'मैं हूँ' को आपने देखा है? नहीं देखा तो फिर 'मैं' को क्यों मानते हो?

---

* मान-अपमान, आदर-निरादर, सत्कार—ये 'शरीर' को लेकर होते हैं। निन्दा-स्तुति, बड़ाई, यश, कीर्ति (मृत्युके बाद)—ये 'नाम' को लेकर होते है।

प्रत्येक वस्तुको देखनेमें दो चीजोंकी जरूरत पड़ती है—नेत्रोंकी और प्रकाशकी। नेत्रोंके बिना और प्रकाशके बिना (अँधेरेमें) हम कुछ नहीं देख सकते। परन्तु भगवान्‌को देखनेमें इन दोनोंकी जरूरत नहीं। भगवान् नेत्रहीन सूरदासजीको भी दीख गये।

*** *** ***

जबतक शरीरमें मैं-मेरापन रहेगा, तबतक दोष छूटेंगे नहीं। इसमें शरीरसे अलगावका विवेक बहुत काम देता है। शरीर 'मैं' और 'मेरा' नहीं है, यह आप स्वयं स्वीकार करेंगे तो होगा, दूसरा नहीं करा सकता। यह आप स्वीकार कर लो तो सब साधन सुगम हो जायँगे। समझमें न आये तो 'हे नाथ, हे नाथ!' पुकारो। उनकी कृपासे समझमें आ जायगा।

शरीरसे भजन होता ही नहीं। शरीर आपके कुछ काम नहीं आयेगा। विनाशी अविनाशीके काम क्या आयेगा? शरीर-संसार एक हैं—यह कहनेका तात्पर्य है कि यह पंचभूतोंसे बना हुआ है। हम पंचभूतोंसे बने हुए नहीं हैं।

नामी (परमात्मा) केवल नाममें ही नहीं, प्रत्युत सब जगह परिपूर्ण हैं।

*** *** ***

जो अपनेको शरीर मानते हैं, उनकी सेवा करना कर्मयोग है। सेवा चेतनकी ही होती है, जड़की नहीं। जड़का तो सदुपयोग-दुरुपयोग होता है। तन, मन, वचन आदिसे किसीको कभी किंचिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचाना असली सेवा है। सेवा तभी कहलायेगी, जब बदलेमें कुछ भी इच्छा न रखें। **इच्छा रखेंगे तो वह व्यापार होगा, सेवा नहीं। राग-द्वेषवाला व्यक्ति भी सेवा नहीं कर सकता।**

कर्मयोगमें सबकी सेवा करना होता है। ज्ञानयोगमें सबसे अलग होना होता है। कर्मयोग करणनिरपेक्ष है, ध्यानयोग करणसापेक्ष है। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना और सीधे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ना—दोनों करणनिरपेक्ष हैं।

जो तीनों गुणोंसे मोहित हैं, वे ही सेवाके पात्र होते हैं। जो मूर्ख हैं, वे ही उपदेश और शास्त्रके पात्र होते हैं।

धन, बल, विद्या आदि दूसरोंके काम आ जायँ तो सार्थक हैं, अन्यथा निरर्थक हैं।

*** *** ***

जिन्होंने अपनी बुद्धिके अनुसार करके उन्नति की है, लाभ उठाया है, उनकी बात माननी चाहिये। उनके अनुभवका आदर करना चाहिये। केवल युक्ति अच्छी होनेसे लाभ नहीं होता। उसका परिणाम देखना चाहिये। बातें तो अच्छी दीखती हैं, पर उनका परिणाम क्या होगा—यह देखना चाहिये*।

राम-राम करनेसे क्या होगा—यह बात युक्तिसे भले ही ठीक दीखे, पर जिन्होंने राम-राम किया है, उनको लाभ हुआ है, अतः उनकी ही बात माननी चाहिये। भगवान् भी भक्तोंकी बातका बड़ा आदर करते हैं।

*** *** ***

घरमें किसीकी मृत्यु होनेपर सत्संग, मन्दिर और तीर्थ—तीनोंमें शोक नहीं रखना चाहिये अर्थात् इन तीनों जगह जरूर जाना चाहिये। इनमें भी सत्संगकी विशेष महिमा है। सत्संगसे शोकका नाश होता है।

---

* देखें—गीताप्रेससे प्रकाशित '**प्रेरक कहानियाँ**' पुस्तककी पहली कहानी 'बुद्धिमान बनजारा'।

दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपना दुःख मिटता है। यह दुःख मिटानेकी दवा है। पाँच-सात वर्षके गरीब बालकोंको मिठायी बाँटनेसे, उनको राजी करनेसे दुःख दूर होता है। दूसरेको दुःख देनेवाला कभी शान्तिसे नहीं रह सकता। गरीबों, दुखियोंकी सेवासे और सन्तोंके संगसे परमात्मा मिलते हैं।

*** *** ***

लोग कहते हैं कि देखे बिना परमात्माको कैसे मानें? हम कहते हैं कि जो दीखता है, उसको कैसे मानें? क्योंकि जो दीखता है, वह एक क्षण भी नहीं टिकता, प्रतिक्षण बदलता रहता है।

देहाभिमानसे ही सब अनर्थ होते हैं। शरीरमें अहंता-ममता-तादात्म्य खास जन्म-मरणकी जड़ है। इसको मिटाये बिना कल्याण नहीं होगा, सिद्धियाँ हो सकती हैं।

यह शरीर सुख भोगनेके लिये नहीं है। **सुखार्थीको लौकिक विद्या भी प्राप्त नहीं होती, फिर तत्त्वज्ञान कैसे होगा?**

नित्यप्राप्त वस्तुमें अभ्यासकी क्या आवश्यकता? नित्यप्राप्तकी प्राप्ति केवल बोधसे होती है। बोध होता है जड़ताके त्यागसे। वृत्तियोंसे तत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी? वृत्तियाँ विकारी हैं, तत्त्व निर्विकार है।

मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—इसमें मन-बुद्धि साथमें नहीं हैं।

*** *** ***

परमात्माकी प्राप्तिके लिये यही जन्म है, यही अवसर है। दर्शन तो दुर्लभ हैं, पर तत्त्वज्ञान बहुत सुलभ है। तत्त्वज्ञानमें आप जितने स्वतन्त्र हैं, उतने दर्शनमें स्वतन्त्र नहीं हैं। इसी तरह भगवान्‌को अपना माननेमें आप स्वतन्त्र हैं।

भगवान् गीतामें कहते हैं—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५।१५) 'मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ।' अतः अनुभव हो या न हो, दीखे या न दीखे, मान लो कि परमात्मा मेरे हृदयमें हैं। **भगवान् मेरेमें हैं, मेरे हैं और अभी हैं—केवल इतना माननेकी जरूरत है, और कुछ करनेकी जरूरत नहीं।**

पाप क्या परमात्मासे बलवान् है? वे परमात्मप्राप्तिमें बाधक कैसे होंगे? परन्तु आप ही तैयार न हों तो दूसरा क्या करेगा? परमात्मा सच्चे हैं, संसार कच्चा है। कच्चा क्या सच्चेमें व्यवधान करेगा?

*** *** ***

मनुष्य एकदेशीय है, अतः वह भगवान्‌को भी एकदेशीय मानकर उपासना कर सकता है। सांसारिक वस्तु भी जैसी कल्पना करते हैं, वैसी नहीं मिलती, फिर परमात्मा वैसे कैसे मिलेंगे?

मन्त्र-जपमें विधि होती है, नामजपमें नहीं। नामजप तो पुकार है। बच्चा माँ-माँ पुकारता है, '**मात्र्यै नमः**' नहीं कहता। डाकू लूटते हों तो पुकारते हैं कि जप करते हैं? पुकारमें विधि नहीं होती, भाव होता है।

हमें सेवा करनेका अधिकार है, सेवा लेनेका नहीं। सेवा लेनेका अधिकार एक भगवान्‌के सिवाय किसीको नहीं है।

*** *** ***

सहजावस्था स्वतःस्वाभाविक है। बनावटीपना छोड़ दें तो स्वाभाविकता स्वतःसिद्ध है। ममता-कामना ही इसमें बाधक हैं। **प्राप्तमें ममता, अप्राप्तकी कामना और करनेका वेग—ये तीनों न**

रहें तो सहजावस्था प्राप्त हो जायगी।

ध्यान, समाधि करके जो अवस्था प्राप्त होती है, वह सहजावस्था नहीं होती। सहजावस्था कोई अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्थाओंसे अतीत सहज-स्वाभाविक तत्त्व है।

ममता छोड़ना कठिन है तो क्या ममता रखना सुगम है? ममता रह सकती ही नहीं। जो रह सकती ही नहीं, उसको नहीं छोड़ सकते तो क्या छोड़ोगे? बचपनमें काँचके टुकड़ोंमें ममता थी, वह ममता आज है क्या? जिनमें ममता रखते हो, उनसे अरुचि होती ही है—यह नियम है। पर आप अरुचि-अंशको पकड़ते ही नहीं। केवल रुचि-अंशको पकड़ते हैं।

मुक्ति अभावसे नहीं होती, त्यागसे होती है। एकको अन्न मिला नहीं, एकने अन्न लिया नहीं—दोनों बराबर हैं क्या? दरिद्र और विरक्त—दोनों समान दीखते हैं, पर दोनों बराबर हैं क्या?

न संसारकी इच्छा हो, न परमात्माकी। सर्वथा इच्छा मत रखो तो सहजावस्था हो जायगी।

*** *** ***

भगवान्‌की असली इच्छा होगी तो कोई-न-कोई मार्ग बतानेवाला अपने-आप मिल जायगा।

आप गृहस्थमें रहो, पर गृहस्थ आपमें नहीं रहना चाहिये। नौका पानीमें रहे, पर पानी नौकामें नहीं रहना चाहिये।

बालकपर गुस्सा 'आना' नहीं चाहिये, अपितु शिक्षा देनेके लिये गुस्सा 'करना' चाहिये। तात्पर्य है कि भीतर गुस्सा न हो, प्रत्युत बाहरसे गुस्सेका नाटक हो। गुस्सेके वशमें नहीं होना चाहिये।

*** *** ***

परमात्माकी प्राप्ति उत्कट इच्छामात्रसे होती है। परन्तु इच्छाकी अपेक्षा भी अनिच्छा तेज है। पर यह बात जल्दी समझमें आती नहीं।

जैसे भूखेका अन्नमें, प्यासेका जलमें मन खिंचता है, ऐसे भगवान्‌में मन खिंच जाय, तल्लीन हो जाय। चिन्तन करनेवाला न रहे, केवल चिन्तन रह जाय।

हरेक साधनमें प्रियता मुख्य रहनी चाहिये। नामजपमें नामकी प्रीति रहे।

राग रखना कठिन है, राग छोड़ना कठिन नहीं है। वैराग्य सबसे सुगम है। परन्तु जो भोग और संग्रहकी इच्छा, उद्देश्य रखते हैं, उनके लिये वैराग्य कठिन है।

'विचारसागर' साधनका ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत विद्वत्ताका ग्रन्थ है। विद्वत्ता अलग चीज है, साधन अलग चीज है। पढ़नेसे केवल बातें सीख जाओगे।

*** *** ***

संत-महात्मा तथा शास्त्र यही समझाते हैं कि तुम परमात्माके साथी हो। तुम संसारके साथ सदा नहीं रह सकते।

संसारका काम तो भविष्यमें होता है, पर परमात्माकी प्राप्तिमें भविष्य नहीं है। क्या पाप-कर्मोंमें इतनी ताकत है कि भगवान्‌को अटका दें? जो पापोंसे भी निर्बल हों, वे भगवान् हमें मिलकर क्या निहाल करेंगे? परमात्माकी प्राप्तिमें अन्तःकरणका काम ही नहीं है। उनकी प्राप्ति करणके अधीन नहीं है। क्या माँ बालकको अन्तःकरण शुद्ध होनेपर मिलेगी। डाकू, कसाई आदिको भी भगवान् मिल गये तो क्या उनका अन्तःकरण शुद्ध था?

भगवान्‌के लिये केवल लगन चाहिये। **केवल आपका भाव ही अटकानेवाला है।** यदि आपका

भाव हो कि भगवान् अभी मिलेंगे तो वे अभी मिल जायँगे। मान लो, कोई मुझे कम्बल दे और दूसरा कहे कि स्वामीजी तो बड़े त्यागी हैं, ये कम्बल कैसे ले लेंगे! तो इच्छा होते हुए भी मैं कम्बल नहीं ले सकूँगा। ऐसे ही परमात्माकी प्राप्तिमें आपके सिवाय और कोई आड़ लगानेवाला नहीं हैं।

*** *** ***

अगर सच्चे हृदयसे परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो सांसारिक सुख छोड़ना पड़ेगा। अगर साधन करना हो तो पहले ही सोचना होगा कि हमें सुख लेना नहीं है, सुख देना है। हमारा काम साधन करना है, सिद्धि पाना नहीं—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २।४७)। भोगके त्यागसे योग सिद्ध होता है। साधनमें जो बाधक लगे, उसका त्याग कर दो।

वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति इच्छारहित होनेसे ही होती है। दूसरी इच्छाओंको मिटानेके लिये ही परमात्माकी इच्छा करनेकी बात कहते हैं। काँटेसे काँटा निकालना है। कामनाने ही हमें परमात्मासे दूर किया है और किसीकी ताकत नहीं परमात्मासे दूर करनेकी। **कोई कामना न रहे तो स्वतः परमात्मामें ही स्थिति होगी।**

तत्त्वज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञान केवल अज्ञान मिटाता है, और अज्ञान मिटाकर खुद भी शान्त हो जाता है। अतः तत्त्वज्ञान अज्ञानका नाशक है।

परमात्माकी इच्छा करना वास्तवमें परमात्मासे दूर होना है। स्वतःप्राप्त तत्त्वकी इच्छा नहीं करनी पड़ती। उसकी इच्छा करोगे तो उससे दूर हो जाओगे।

*** *** ***

साधकमें साधन-विरुद्ध बात नहीं आनी चाहिये। साधन-विरुद्ध बात न आये तो समझो बहुत काम हो गया।

किसीको बुरा समझे नहीं, किसीका बुरा चाहे नहीं और किसीका बुरा करे नहीं। किसीको बुरा समझना भी पाप है, अपराध है। बुराई आगन्तुक दोष है। मनुष्य सर्वथा भला तो हो सकता है, पर सर्वथा बुरा नहीं हो सकता। अतः किसीमें भी दोषकी स्थापना न करें, न अपनेमें, न दूसरोंमें।

भगवान्‌के सामने अपने पाप कहनेसे पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवान् निर्दोषताकी अन्तिम सीमा हैं।

साधकके लिये खास बात है कि वह अपना जीवन निर्दोष बनाये। थोड़ा भी दोष आँखमें तिनकेकी तरह खटकना चाहिये।

त्याग-वैराग्यसे उतनी शुद्धि नहीं आती, जितनी प्रेमसे आती है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० २९।३)

*** *** ***

कामना नहीं होनी चाहिये, पर उद्देश्य अवश्य होना चाहिये। मनुष्य कामनासे बँधता है, उद्देश्यसे मुक्त होता है। भगवत्प्राप्तिकी इच्छा उद्देश्य है, कामना नहीं।

जब कभी मनमें अशान्ति, हलचल हो तो समझें कि भीतर कोई-न-कोई कामना है, कोई-न-कोई गलती की है। बिना गलतीके हलचल होती ही नहीं।

भीतरकी कमियोंका ज्ञान साधनसे नहीं होता, प्रत्युत असली सत्संगसे होता है। **सत्संगसे भूल दीखती है, और साधनसे भूल मिटती है।** सत्संगके बिना भीतरकी गाँठें खुलेंगी नहीं, और साधनके बिना रास्ता कटेगा नहीं। मोटरमें प्रकाश भी चाहिये, चाल भी चाहिये।

*** *** ***

मनुष्ययोनि भोगयोनि नहीं है, प्रत्युत साधनयोनि है, प्रेमयोनि है, भक्तियोनि है। भोगयोनि वह होती है, जिसमें नया कर्म करनेका अधिकार न हो।

'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं' (मानस, अयोध्या० १५०।४)—सुखी-दुःखी होनेवाला जड़ है, भोगयोनि है।

मनुष्यमात्र परमात्मतत्त्वका अधिकारी है। मनुष्य सबका कल्याण करनेवाला है, भगवान्‌का भी। भगवान्‌का कल्याण है—भगवान्‌की मनचाही करना, उनकी भूख मिटाना। भगवान् प्रेमके भूखे हैं। प्रेमके सिवाय भगवान्‌को और क्या चाहिये? वह प्रेम मनुष्य ही दे सकता है।

भीतरका दुःख पदार्थोंसे नहीं मिटेगा। वह मिटेगा सत्संगसे, विचारसे, साधनसे।

*** *** ***

मेरा मन भगवान्‌में लग जाय, मेरा माथा, हाथ, पैर भगवान्‌में लग जाय—यह बात विशेष नहीं है। आप खुद भगवान्‌में लग जाओ। **खुद तो लगते नहीं, फिर मन कैसे लगेगा?** आप मान-बड़ाई, वाह-वाहमें लगे रहो और मन भगवान्‌में लग जाय—यह कभी सम्भव नहीं है। मन तो कलमकी तरह एक करण है। आप भगवान्‌में लग जाओ, फिर मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि सब भगवान्‌में लग जायँगे।

मनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। संसारका जो प्रभाव पड़ा है, उसीका नाम 'मन' है। भगवान्‌के प्रभावका नाम 'साधन' है।

विचार करें, आप स्वयं मन हैं या आप मनके हैं या मन आपका है? मन आपका है तो क्या आपके लगे बिना मन लग जायगा? हम लगे नहीं, हमारा हाथ लग जाय—यह कैसे होगा?

मन लगेगा तो भूल हो जायगी, खुद लगोगे तो भूल नहीं होगी। 'मैं विवाहित हूँ'—इसकी भूल होती है क्या? इसकी भूल नहीं होती, क्योंकि यह स्वयंकी स्वीकृति है। आप खुद लग जाओ, फिर मन, बुद्धि, धन, जमीन, कुटुम्ब आदि आपकी सब चीजें भगवान्‌में लग जायँगी।

मन मेरा है तो मेरेमें लगेगा, भगवान्‌में कैसे लगेगा? मन भगवान्‌का है तो भगवान्‌में लगेगा। **मन लगानेसे समाधि लग जायगी, पर मुक्ति, कल्याण नहीं होगा।** कल्याण भी हो जाय तो प्रेम नहीं होगा। प्रेम तो स्वयं लगनेसे ही होगा।

*** *** ***

मनुष्यमें तीन शक्तियाँ हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। सेवा करनेसे करनेकी शक्ति सार्थक हो जाती है। स्वयंको जाननेसे जाननेकी शक्ति सार्थक हो जाती है। भगवान्‌को माननेसे माननेकी शक्ति सार्थक हो जाती है। माननेसे भी बढ़कर है—भगवान्‌को प्राप्त करना।

सेवा ऐसे करें कि संसारकी कोई चीज बाकी न रहे। जो मिला है, वह दे दे और नयी आशा न रखे। मनुष्य संसारकी वस्तु लेनेसे कृतकृत्य नहीं होता, प्रत्युत देनेसे कृतकृत्य होता है। लेनेकी इच्छा रहेगी तो प्राणशक्ति नष्ट होनेपर दुबारा जन्म लेना पड़ेगा। अतः लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग

कर दे और जो मिला है, उसमें मैं-मेरीका त्याग कर दे, अकिंचन हो जाय।

*** *** ***

असली सत्संग है—भगवान्‌में प्रेम। भगवान् प्यारे लगें। भगवान्‌की प्रत्येक वस्तु प्यारी लगे। भगवान्‌के नाते सब लोग प्यारे लगें।

दूसरेकी वस्तु, प्रतिग्रह लेनेसे कर्जा चढ़ता है, परमात्मप्राप्तिमें देरी होती है।

भगवान्‌के ध्यानके लिये भगवन्नाम सहारा है। भगवन्नामके सहारे ध्यान लग जाता है। ध्यान लगनेपर भगवन्नाम अपने-आप छूट जाय तो कोई दोष नहीं है, पर छोड़ना नहीं चाहिये।

*** *** ***

साधन निरन्तर होना चाहिये, पर वह तभी होगा, जब अपनी अहंताको बदला जाय। 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—इस तरह अपनी अहंताको बदलनेसे साधन निरन्तर होगा।

विशेष बात है—अपने कर्तव्यका पालन करना। वह कर्तव्य चाहे सेवारूपसे करो, चाहे पूजारूपसे करो। कर्तव्यमात्र समझकर कर्म किया जाय तो कर्म तथा कर्मफलसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। परन्तु **साधन कर्तव्यमात्र समझकर करेंगे तो कभी प्रेम जाग्रत् नहीं होगा।**

भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे कर्म नहीं होता, प्रत्युत उपासना होती है।

*** *** ***

भगवान्‌का होनेसे ऐसा नहीं होता कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, दूसरे भगवान्‌के नहीं है', प्रत्युत ऐसा भाव होता है कि सारा संसार भगवान्‌का है।

अपने लिये करनेसे बन्धन होता है, चाहे कुछ भी करो।

मुझे बोध हो गया, मुझे बोध नहीं हुआ, पता नहीं कि मुझे बोध हुआ कि नहीं हुआ—ये तीनों ही बातें बोध होनेपर नहीं होती।

माँकी आज्ञा मानना भी भजन है—'**भज सेवायाम्**'।

*** *** ***

गीता दार्शनिक बातोंपर विचार न करके सार बात कहती है, जिससे जीवका कल्याण हो जाय। दार्शनिक ग्रन्थ पढ़नेके बाद गीता समझमें नहीं आती, क्योंकि वह गीताको भी दार्शनिक दृष्टिसे ही देखेगा।

संसारके सम्बन्धसे अशान्ति होती है। कर्मयोगमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शान्ति होती है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक है (गीता ५।४-५)। गीताके मूल श्लोकोंको लेकर चलें तो दार्शनिक मतभेद नहीं रहेगा। मतभेद न रहनेसे आपसमें खटपट नहीं होगी, विरोध नहीं होगा, प्रत्युत प्रेम हो जायगा।

गीतामें जहाँ ज्ञानका वर्णन है, वहाँ 'द्वैत' का वर्णन है और जहाँ भक्तिका वर्णन है, वहाँ 'अद्वैत' का वर्णन है। जैसे, ज्ञानके वर्णनमें कहा—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरऽपि दृष्टः.....**' (२।१६) और भक्तिके वर्णनमें कहा—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (९।१९)।

भक्तिमें भगवान् एकसे दो होते हैं। जैसे, प्रेमकी वृद्धिके लिये भगवान् राधा और कृष्ण हो गये। राधा-कृष्णका प्रेम स्त्री-पुरुषका प्रेम (काम) नहीं है। इसलिये रासलीलाके समय गोपियोंने अपने-आपको सजाया नहीं, प्रत्युत जैसी थीं, वैसी ही चली गयीं। वे शृंगार करके कृष्णके पास गयी हों—

यह कहीं नहीं आता। प्रेम और काममें यह कितना फर्क है!

किसी भी साधन-मार्गसे अहंता, ममता और कामना—तीनोंको मिटाना है। क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़ना 'अहंता' है। प्राप्तके साथ सम्बन्ध जोड़ना 'ममता' है। अप्राप्तके साथ सम्बन्ध जोड़ना 'कामना' है।

संसारमें 'नहीं'-पना साधकको दीखता है। सिद्धको सब परमात्मा ही दीखते हैं।

*** *** ***

सूतकमें गंगा-स्नान कर सकते हैं।

यदि शंकर इष्ट हों तो राम, कृष्ण, देवी, गणेश, सूर्य आदि किसीके मन्दिरमें जायँ तो समझें कि ये हमारे शंकरजीके ही भक्त हैं। हमारे गुरुभाई हैं।

मन्त्र-जप धीरे-धीरे करना चाहिये, तेजीसे नहीं। अधिक संख्याका लोभ होनेसे तेजीसे जप करते हैं। वास्तवमें संख्याका महत्त्व नहीं है, मन लगनेका महत्त्व है।

भगवान् कृष्णका रुक्मिणी आदिसे स्वकीया प्रेम और राधाजीसे परकीया प्रेम था। परकीया प्रेम विशेष होता है।

श्रद्धा, प्रेम, विश्वास कम हों तो भगवान्‌से माँगो। यह भगवान्‌से माँगनेकी चीज है।

सृष्टि ब्रह्मसे पैदा नहीं होती, प्रत्युत सगुण ईश्वरसे पैदा होती है—**'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्रह्मसूत्र १।१।२)। क्रिया प्रकृतिसे होती है। भगवान्‌में प्रकृतिका भेद नहीं है—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९।१९)।

प्रकृतिको जीवने पकड़ा है, ब्रह्मने नहीं। जीव अनादि है। जो प्रकृतिसे सम्बन्ध जोड़ता है, उसीका नाम 'जीव' है। मूलमें उसने अहम्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ा है।

'मैं' प्रकृति है, 'हूँ' जीव है और 'है' ब्रह्म है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योग एक साथ चल सकते हैं, पर एककी मुख्यता रहेगी ही, चाहे जानें या न जानें।

*** *** ***

परमात्मा प्रेम-लीलाके लिये एकसे दो होते हैं, इसलिये प्रेमी भक्त भगवान्‌की आत्मा है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७।१८)। ममता तो मिट जाती है, पर आत्मीयता नहीं मिटती।

वेदान्तियोंके लिये खास बात है—शरीरको मैं-मेरा न मानना। **शरीर 'मैं' नहीं और 'मेरा' नहीं—यह अनुभव होना चाहिये, अन्यथा वेदान्तकी बातें सीख लेनेसे कुछ नहीं होगा।**

जैसे आकाशमें वृक्षके ऊँचा बढ़नेकी कोई सीमा नहीं है, ऐसे ही मनुष्यकी उन्नतिकी भी कोई सीमा नहीं है। जैसे, विश्वामित्रने नयी सृष्टि पैदा कर दी। मनुष्यमें स्वतः बल, योग्यता अधिक नहीं है, पर वह इनको बढ़ा सकता है।

अगर जीव मुक्ति चाहता है तो अपने लिये कुछ न करे। अपने लिये कुछ भी करना बन्धन है। अपने लिये 'त्याग' अर्थात् सम्बन्ध-विच्छेद है। 'रहित होना' अपने लिये है, 'सहित होना' अपने लिये नहीं है। वैराग्य अपने लिये है, क्योंकि इसमें रागसे रहित होना है।

*** *** ***

श्रोता—सत्संगके समय जैसी वृत्तियाँ रहती हैं, वैसी बादमें नहीं रहतीं, इसका क्या कारण है?

स्वामीजी—इसका कारण है कि बिना भूखके बढ़िया भोजन मिल गया। यदि भूख होती तो यह दशा नहीं होती। हाँ, सत्संग करते-करते भूख भी लगने लगेगी और पाचन भी होने लगेगा।

सत्संगकी बातोंको जीवनमें लानेका प्रयत्न करो। बातको पकड़ने और फिर छोड़नेका स्वभाव पड़ा हुआ है, इसीलिये सत्संगकी बातें ठहरती नहीं। बार-बार सत्संग करो। ढिलाईसे सत्संग सुनते हैं तो लाभ नहीं होता। ग्राहक बनकर सुनो। यह निश्चय करके सुनो कि आज सत्संगकी बातको काममें लाना है।

*** *** ***

भजन करो, पर अपने लिये नहीं, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये।

कभी भी मन उदास होता है, अशान्त होता है तो समझें कि कोई-न-कोई गलती की है।

हम दूसरेका हित करते हैं, फिर भी दूसरा नाराज होता है तो अपनी गलती देखें कि मेरेसे कहीं गलती हुई है। उसकी तरफ न देखकर अपनी तरफ देखें।

वस्तुको अपना न माने—यही 'अर्पण' है। वस्तु छूटती है मौतसे, और छोड़ते हैं, मौजसे। त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है।

वास्तवमें शक्ति चेलेमें है, गुरुमें नहीं है। गुरुको चेला ही स्वीकार करता है।

*** *** ***

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'—यह असली त्याग है। बाहरका त्याग असली त्याग नहीं है। आपको त्याग करना तो आता ही है। गिरफ्तारीका वारण्ट आता है तो घर छोड़कर छिप जाते हैं। तो क्या भगवान्‌के लिये नहीं छोड़ सकते? अन्तमें तो सब छूटेगा ही। पकड़कर रख सकते ही नहीं।

भगवत्प्राप्ति नामसे अथवा मन्त्रसे नहीं होती, प्रत्युत भावसे होती है। पूजा भाव है, क्रिया नहीं। असली पूजा भीतरसे होती है।

श्राद्धका अन्न भिक्षामें, साधुको नहीं देना चाहिये, केवल ब्राह्मणोंको ही देना चाहिये।

जैसे विवाह होनेपर होता है कि अब मैं कुँआरी नहीं हूँ, ऐसे ही शरणागत होनेपर अनाथपना मिट जाता है कि मैं बिना मालिकका नहीं हूँ। चिन्ता-शोक मिट जाते हैं। वास्तवमें हम सदासे भगवान्‌के ही हैं। केवल स्वीकृति करनी है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'।

साधनमें निषेध मुख्य है। विध्यात्मक एकदेशीय होता है, पर निषेधात्मक व्यापक होता है।

प्रत्येक कार्य भगवान्‌का पूजन समझकर करनेसे हमारा सम्बन्ध कर्मोंके साथ न होकर भगवान्‌के साथ होगा। अन्तमें भगवान्‌की ही याद आयेगी, जैसे—व्यापारीको अन्तमें पैसोंकी याद आती है।

एक मिनट भी साधन न करे तो वह साधक नहीं है। परन्तु ऐसा तभी होगा, जब अपना सम्बन्ध भगवान्‌के साथ हो। सम्बन्ध निरन्तर रहता है, पर क्रिया निरन्तर नहीं रहती। सब कर्म भगवान्‌के लिये करना असली भजन है।

हमारा पुनः जन्म होगा, मुक्ति ऐसे कैसे हो जायगी—ऐसी भावना भीतर रहनेसे ही पुनः जन्म होता है। जैसी भावना, वैसा फल।

*** *** ***

सांसारिक पदार्थों एवं व्यक्तियोंको रख नहीं सकते, केवल ममता करके फँस सकते हैं।

सांसारिक पदार्थ और व्यक्ति हजारों-लाखों वर्ष रह जायँ तो भी एक दिन उनका वियोग होगा ही। वे आये हैं और चले जायँगे। उनको छोड़ना चाहते नहीं, फिर मुक्ति कैसे हो? **ऐसा भाव रखो कि सब चीजें छोड़नेके लिये ही हैं, रखनेके लिये कुछ नहीं है!** जो छूटनेवाले हैं, उनको पहले ही छोड़ दो, उनको हृदयसे भगवान्‌को अर्पण कर दो, बाहरसे कुछ करने या कहनेकी जरूरत नहीं। जो चीज अवश्य छूटनेवाली है, उसको मनसे छोड़नेमें क्या हर्ज है? धर्मशालामें क्या नींद नहीं आती? क्या कमरेका सुख नहीं मिलता? पर छोड़कर जानेमें दु:ख नहीं होता। कन्यादान करनेके बाद बेटीकी चिन्ता होती है क्या?

संसारमें आपकी कोई चीज है नहीं, पर अपना मानकर आपने आफत कर ली।

*** *** ***

भगवान् नामजप, गोसेवा आदि किसी साधनसे दर्शन नहीं देते, प्रेमसे दर्शन देते हैं—*'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना'* (मानस, बाल० १८५।३)। अगर वे साधनसे मिल जायँ तो वे साधनसे कमजोर ही सिद्ध होंगे। अत: किसी साधनके द्वारा भगवान्‌पर अधिकार नहीं कर सकते।

*** *** ***

शवके दाह-संस्कारसे पहले मृतकके गलेसे तुलसीकी माला नहीं उतारनी चाहिये, पर गीताजी हो तो निकाल देनी चाहिये।

*** *** ***

शास्त्रनिषिद्ध रीतिसे भोगे गये भोगके संस्कार अन्त:करणमें बहुत गहरे बैठते हैं, जल्दी निकलते नहीं। इसलिये तपस्या करनेवाले बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी समयपर विचलित हो गये।

श्रवण, मनन, अध्ययन आदिपर तो खूब विचार करते हैं, पर शरीरमें मैं-मेरेपनकी तरफ ध्यान नहीं देते। इसलिये शरीरकी सत्ता बनी रहती है। जबतक शरीरकी सत्ता रहेगी, तबतक दोषोंसे नहीं बच सकते—**'देहाभिमानिनि सर्वे दोषा:ऽप्रादुर्भवन्ति'। शरीरके बिना भजन कैसे होगा—यह बात भीतर बैठी रहनेसे देहाध्यास मिटता नहीं।** राग-द्वेषको अन्त:करणका धर्म मान लिया—यह ठीक नहीं है। राग-द्वेष अन्त:करणके विकार हैं, धर्म नहीं। इसमें कारण यही है कि शरीरकी सत्ता मान ली।

वाच्यार्थसे ज्ञान जल्दी होता है। लक्ष्यार्थमें मनुष्य बातें सीख लेता है।

विवेक होनेपर वैराग्य होना ही चाहिये। परन्तु आजकलके वक्ताओं और लेखकोंको देखो तो उनके जीवनमें वैराग्य दीखता नहीं।

संसार-शरीरकी सत्ताका भाव मिटानेके लिये निषिद्धका त्याग करना आवश्यक है। राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि दोषोंके त्यागपर जोर लगाना चाहिये। कारण कि वास्तवमें संसारका निषेध ही करना है। दैवी-सम्पत्ति आसुरी-सम्पत्तिकी रक्षा करती है। इसलिये विहितके साथ निषिद्ध रहनेसे साधन सिद्ध नहीं होता। **दैवी सम्पत्तिका अभिमान दैवी नहीं है, प्रत्युत आसुरी है।** अच्छाईका अभिमान बुराईकी जड़ है।

निषिद्धका त्याग करनेसे विहित स्वत: होगा। पर विहित करनेसे निषिद्धका त्याग स्वत: नहीं होगा। थोड़ा त्याग होगा, विशेष नहीं। इसलिये निषिद्धके त्यागका लक्ष्य रहना चाहिये। भगवान्‌की कृपासे कुछ भी असम्भव नहीं है।

एकान्तवास ऐसी चीज है जो सात्त्विक पुरुषके सत्त्वगुणको बढ़ाता है, राजस पुरुषके रजोगुणको

बढ़ाता है और तामस पुरुषके तमोगुणको बढ़ाता है।

*** *** ***

जो काम बालिने किया, वही सुग्रीवने भी किया, पर रामजीने दण्ड बालिको दिया। कारण यह था कि बालिने जो काम किया, अपनी आसक्तिसे किया, परन्तु सुग्रीवने जो काम किया, भगवान्‌की सम्मतिसे किया। अर्जुनने भी भगवान्‌की आज्ञासे युद्ध किया।

भगवान्‌में प्रियता होना 'भक्ति' है। भगवान्‌का नाम, रूप, लीला आदि हरेक वस्तु प्यारी लगे।

*** *** ***

लापरवाहीका नाम वैराग्य नहीं है, प्रत्युत रागका अभाव वैराग्य है। लापरवाही तामसी वृत्ति है, जबकि वैराग्य सात्त्विकी वृत्ति है। लापरवाही न हो, इसलिये भगवान्‌ने कहा है—'**सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५।२५, १२।४)।

'**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**' (गीता ५।१९)—इसमें समताकी पहचान बतायी गयी है कि 'जिनका अन्तःकरण समतामें स्थित हैं, उन्होंने इस जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है'। स्वयंकी समताका प्रभाव पेड़-पौधे, दीवार आदिपर भी पड़ता है।

अन्तःकरणकी अशुद्धि परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक है—यह बात हमें जँचती ही नहीं। ऐसा तो हम तब मानें, जब 'करण' के द्वारा परमात्मप्राप्ति मानें। परन्तु 'करण' तो क्रियाकी सिद्धिमें हेतु है। खास बात है कि आपका उद्देश्य क्या है? अन्तःकरण शुद्ध हो या अशुद्ध, कर्ताका उद्देश्य मुख्य है। पतिव्रता अशुद्ध अन्तःकरणवाली भी हो सकती है। अशुद्ध अन्तःकरणवालेकी भी अपने व्रत, नियममें दृढ़ता हो सकती है। अतः उद्देश्य दृढ़ होगा तो अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। कहते हैं कि ब्राह्मणको ही परमात्मप्राप्ति होती है। परन्तु जो शरीर सात वर्षोंमें कण-कण बदल जाता है, उसके द्वारा तत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी? तत्त्वप्राप्ति कर्ताको होती है, करणको नहीं।

'**सर्वभूतहिते रताः**' का भाव होनेसे अपने वर्ण, आश्रम आदिका अभिमान नहीं होगा। भगवान्‌को वर्ण-आश्रम प्यारा नहीं है, प्रत्युत प्रेम प्यारा है। वर्ण-आश्रमकी मर्यादा संसारमें काम आती है, जो आवश्यक है। परमात्माकी प्राप्तिमें सब योग्य हैं, अधिकारी हैं।

परमात्मप्राप्तिके लिये किसीको भी मना नहीं है। अतः परमात्मप्राप्तिमें कभी किसीको निराश नहीं होना चाहिये। माँकी गोदमें जानेके लिये कौन-सा बालक अयोग्य है?

जो संसारमें जितना अयोग्य होता है, उतना परमात्मप्राप्तिमें योग्य होता है। संसारमें जितना योग्य हो, उतनी परमात्मप्राप्तिमें देरी होगी।

*** *** ***

मनुष्य कितना भाग्यशाली है कि वह भगवान्‌को अपना कह सकता है, उनका होकर रह सकता है, उनका चिन्तन कर सकता है और चिन्तन करा सकता है। ऐसा अधिकार मनुष्यशरीरमें ही है। दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी भगवान्‌को अपना मान सकता है।

भगवान् शासक नहीं बनते। वे राजा बनते हैं तो भी अपनेको राजा नहीं मानते—

जौं अनीति कुछ भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

(मानस, उत्तर० ४३।३)

वे तो सखा ही बनाते हैं। ऐसे प्रभुको छोड़कर दूसरेकी गुलामी करनेकी क्या जरूरत है?

अपनेको भगवान्‌का और भगवान्‌को अपना माननेका यह बहुत सुन्दर मौका है।

*** *** ***

मिली हुई और बिछुड़नेवाली चीज अपनी नहीं होती—यह कायदा है। अपनी चीज कभी बिछुड़ती नहीं।

भगवान् सबको मिलते हैं। हम योग्य होंगे, पात्र होंगे, तब भगवान् मिलें तो वे भगवान् क्या हुए?

जो बात आचरणमें नहीं आयी, उसे सीखा है, समझा नहीं है। यदि समझमें आ जाय तो बेईमानी कैसे रहेगी? वस्तुओंमें खिंचाव कैसे होगा? हम समझते हैं—यह महान् बेसमझी है। सुनी हुई और सीखी हुई बात काममें नहीं आती। साँपको समझ लें तो क्या उसे पकड़ लेंगे? समझ तभी मानी जायगी, जब संसारमें अपनापन छूट जाय। समझनेपर चाल बदल जाती है, अवस्था दूसरी हो जाती है।

जो एक दिन जरूर छूटेगा, उसे छोड़नेमें क्या हर्ज है?

*** *** ***

आप जो भी काम कर रहे हैं, उसे अहंता-ममता-कामनासे रहित होकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करें तो उसीसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। उद्देश्य केवल भगवत्प्राप्तिका हो।

माता, पिता, पति, गुरु, मालिक, राजाकी आज्ञाका पालन करनेवाला वास्तवमें ऋषियोंकी एवं शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करता है। माता, पिता आदिकी आज्ञाका पालन करनेसे कल्याण होगा। हाँ, निषिद्ध आज्ञाका पालन न करें।

*** *** ***

मानवशरीर क्यों मिला है? यह जीवके उद्धारके लिये मिला है। उद्धार होगा त्यागसे। इस संसार-समुद्रसे कुछ लेने लगोगे तो डूब जाओगे और हाथों-पैरोंसे पानीको फेंकोगे तो तर जाओगे।

मिली हुई और बिछुड़नेवाली चीजका त्याग कर दो तो मुफ्तमें कल्याण हो जायगा। प्रत्येक वस्तु मिलती है और बिछुड़नेवाली है—ये दो बातें याद कर लो। हमारे लिये कुछ है ही नहीं। जो मिला है, केवल त्याग करने, सेवा करनेके लिये ही मिला है। अपने माने हुए सम्बन्धका त्याग करना है, क्योंकि सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है।

बिछुड़नेवाली चीजको छोड़ दो तो मौज हो जायगी, और वह छूट जाय तो मौत हो जायगी। छूटनेवाली चीजको छोड़ दें तो घरका क्या खर्च हुआ? छोड़नेका तरीका है—उस वस्तुको सेवामें लगा दें या विचारपूर्वक छोड़ दें अथवा भगवान्‌के अर्पण कर दें।

लेनेका भाव पाप है, देनेका भाव पुण्य है। हमने मनसे सबका त्याग कर दिया तो अब बन्धन कैसे रहेगा, 'मेरा'—यह बन्धन है और 'मेरा नहीं'—यह मुक्ति है।

जहाँ सुख लिया, वहीं फँसे। कोई सुख निरन्तर रहता है क्या—यह विचार करो। सुख आपका है ही नहीं, फिर रहेगा कैसे? सुख छोड़नेमें इसलिये कठिनता होती है कि हमने सम्बन्ध जोड़ लिया।

*** *** ***

जमीन-जायदाद, आश्रम देनेमें तो 'गुरु' की प्रधानता है, पर परमात्मप्राप्ति, कल्याण करनेमें 'शिष्य'

की प्रधानता है। यदि शिष्य गुरुकी आज्ञाका पालन करे तो गुरुकी सामर्थ्य न होनेपर भी शिष्यका कल्याण हो जायगा, क्योंकि गुरुकी आज्ञाका पालन करनेसे शास्त्रकी आज्ञाका पालन होता है।

*** *** ***

हम भूलजनित सुख लेते हैं, इसलिये भूलको भूल जानते हुए भी भूल नहीं मिटती। सभी दुर्गुण-दुराचार सुख-लोलुपताके ऊपर टिके हुए हैं। यह सुखासक्ति ज्ञानकी तीसरी-चौथी भूमिकातक साथ चलती है। अवैध, निषिद्ध रीतिसे सुख भोगनेवालेकी आसक्ति जल्दी नहीं मिटती। परन्तु जो धर्मपूर्वक सुख भोगता है, उसे वैराग्य हो सकता है—**'धर्म तें विरति'** (मानस, अरण्य० १६।१)।

मुक्ति जितनी सुगम है, उतना सुगम और कुछ है ही नहीं। बड़े-बड़े साधनोंकी जरूरत ही नहीं है।

सुखासक्तिसे ही सम्बन्ध जुड़ता है, जो जल्दी टूटता नहीं। सम्बन्ध दुःखसे टूटता है। आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है—यह साधकोंके लिये बड़ी भयंकर, खतरनाक बात है, क्योंकि सीखा हुआ ज्ञान बड़ा भयंकर होता है। आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है तो फिर दुःखी कौन होता है? क्या करण (मन-बुद्धि) दुःखी होता है? कर्त्ता सुखी-दुःखी होता है, 'करण' नहीं।

साधारण-से-साधारण हरेक क्रियामें सुखासक्ति साथ रहती है। अपना सुख देखनेवाला साधक नहीं हो सकता। इसलिये साधकको आरम्भमें ही सुखका त्याग करना पड़ेगा। इससे छूटनेका उपाय है कि 'मैं साधक हूँ'—इस प्रकार अपनी अहंता अर्थात् मैं-पनको बदल दे। अपनेको साधक माननेसे हमारे द्वारा वही कार्य होंगे, जो साधकको करने चाहिये।

'मैं हूँ' संसारमात्रका मूल है। अतः 'मैं हूँ' मिटते ही संसार मिट जायगा। इस मैं-पनको चाहे मिटा दो चाहे शुद्ध कर दो, चाहे बदल दो—तीनोंका परिणाम एक ही होगा।

*** *** ***

समाधि, एकाग्रताके साथ भी अपना सम्बन्ध नहीं है। अपना सम्बन्ध होता तो व्युत्थान नहीं होता। हमारा सम्बन्ध 'है' के साथ है। 'नहीं' के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, पर 'है' के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध, अभेद सम्बन्ध तथा अभिन्न सम्बन्ध है।

जो कहता है कि 'मैं जानता हूँ' (मुझे तत्त्वज्ञान हो गया), वह वास्तवमें नहीं जानता, क्योंकि तत्त्वज्ञानमें त्रिपुटी नहीं है। केवल तीन अवस्थाओंमें महापुरुष 'मैं जानता हूँ' ऐसा कह सकता है—१. अत्यन्त जिज्ञासु सामने आ जाय, २. अपने प्रेमीका शरीर छूट रहा हो और ३. अपना शरीर छूट रहा हो।

*** *** ***

जिस ज्ञानसे पीड़ाके आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है, वह ज्ञान निरन्तर, अखण्ड रहता है। पीड़ा शरीरमें होती है, स्वयंमें नहीं। पीड़ा आती-जाती है, हम रहते हैं। अतः हम पीड़ासे अलग हैं—ऐसा विवेक होनेसे पीड़ाका असर कम हो जायगा।

'संयम' करनेमें सत्संग, सद्विचार और सच्छास्त्र—तीनों सहायक हैं। संयमी पुरुषोंके संगसे भी संयम आता है। सत्संगकी विशेष महिमा है। सत्संगद्वारा मुफ्तमें, बिना अपना उद्योग किये लाभ होता है।

*** *** ***

साधकको अपने मतका आग्रह नहीं रखना चाहिये। **आग्रह रखनेसे विकास रुक जाता है।** उसे

मतवादी नहीं बनना चाहिये—***'मतबादी जानै नहीं ततबादी की बात'***। जो अद्वैत मानते हैं, पर द्वैतका खण्डन करते हैं, उनकी बातपर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। यदि द्वैतका खण्डन करते हैं, तो इससे सिद्ध हुआ कि उन्होंने द्वैतकी सत्ता मानी है।

पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।
संतदास घड़ी अरठ की, ढुरे एक ही ठौर॥

—यह बात मुझे अच्छी लगती है। मेरा मत ठीक है, दूसरेका मत बेठीक है—यह बात जँचती नहीं। यदि यह मतभेद रहता है तो मानना पड़ेगा कि कहीं-न-कहीं कमी है। यदि कोई मतभेद न रहे तो '**वासुदेवः सर्वम्**' हो जायगा।

परमात्माका मुख्य अवतार है—'**वासुदेवः सर्वम्**'। साधनकी लगनवाले मनुष्योंके लिये '**वासुदेवः सर्वम्**' को मानना सर्वश्रेष्ठ है।

*** *** ***

यहाँ (गीताभवन)-से जाओ तो गंगाजल और पुस्तकें—ये दो चीजे साथ ले जाओ। गंगाकी बड़ी महिमा है। गंगाके रूपमें भगवान्‌का अवतार ही है। गंगा प्रतिवर्ष कम होती जा रही है। कुछ वर्षों बाद गंगाके दर्शन कठिन हो जायँगे!

'गीताप्रेस' के समय हमारा जन्म हुआ है, यह भी हमारा बड़ा भाग्य है।

*** *** ***

जब संसारमें आफत आती है, तब भगवान् संतोंको भेजते हैं। वह भी एक अवतार है। सन्तोंका जन्म दिव्य नहीं होता, पर कर्म दिव्य होते हैं। भगवान्‌के जन्म और कर्म दोनों दिव्य होते हैं—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**' (गीता ४।९)। भगवान् तो दुष्टोंका नाश करते हैं, पर सन्त दुष्टताका नाश करते हैं।

आजकल सन्त-महात्माओं और धर्मात्माओंका अकाल पड़ गया है। मानो फसल ही नष्ट हो गयी है। **अभी भगवान्‌का अवतार होना तो दूर रहा, महान् आफत आनेवाली है।** अभी जो गर्भपात, गौहत्या आदि बड़े-बड़े पाप हो रहे हैं, उसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा।

अपना कल्याण चाहनेवालोंके लिये राम और कृष्ण—ये दो अवतार कलियुगमें मुख्य हैं। रामने 'करके' उपदेश दिया और कृष्णने 'कहकर' उपदेश दिया।

*** *** ***

संसारमें होनेवाले निरन्तर परिवर्तनसे सिद्ध होता है कि कोई अपरिवर्तनशील तत्त्व भी है। उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यका जन्म हुआ है। उसकी प्राप्तिके सभी मनुष्य अधिकारी हैं। मनुष्य जन्मता है तो अधिकारी ही जन्मता है।

जिस कृपासे मानवशरीर मिला है, वह कृपा समाप्त नहीं हो गयी है!

*** *** ***

अब मुझे केवल भजन ही करना है—ऐसा भाव आते ही अन्तःकरण शुद्ध हो गया।

यदि काम-क्रोधादि अपनेमें दीखें तो साधकको विचार करना चाहिये कि पहले जितने काम-क्रोध आते थे, उतने ही अब भी आते हैं या कम हुए हैं। यदि काम-क्रोध आते हैं तो बढ़ जाते। यदि कम हुए हैं तो फिर वे आते नहीं हैं, प्रत्युत जाते हैं।

मनुष्योंको तो अपनी दुर्गति बुरी लगती है, पर भगवान्‌को दूसरेकी दुर्गति बुरी लगती है, तभी वे कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६।२०)

'हे कुन्तीनन्दन! वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके ही जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अधिक अधम गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें चले जाते हैं।'

*** *** ***

जिसमें श्रद्धा-विश्वास हैं, उसी साधनसे कल्याण होगा। जबर्दस्ती करनेसे कल्याण नहीं होता। भगवान्‌के अनन्त नाम हैं, पर जिस नाममें श्रद्धा-विश्वास है, वही नाम हमारे लिये श्रेष्ठ है। नाम छोटा-बड़ा नहीं होता।

वास्तवमें अन्तःकरण अशुद्ध नहीं है। कर्ता अशुद्ध है। कर्ताकी अशुद्धि ही अन्तःकरणमें आती है। करण शुद्ध-अशुद्ध कैसे होगा? करण तो कर्ताके अधीन होता है। इसलिये मन अशुद्ध होता ही नहीं, कर्ता ही अशुद्ध होता है।

यदि अपने उद्धारका एक निश्चय हो जाय तो अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। गीतामें आया है—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'** (गीता २।४१) अर्थात् निश्चयवाली बुद्धि एक ही होती है। बुद्धिकी स्थिरताके आगे मनकी स्थिरता कुछ कामकी नहीं। बुद्धि स्थिर होगी तो मन स्वतः स्थिर हो जायगा। कर्ता पक्का विचार कर ले तो करण भी वैसा हो जायगा। कर्ताका एक निश्चय हो जाय तो अशुद्धि टिकेगी नहीं।

*** *** ***

काम-क्रोध न चेतनमें रहते हैं, न जड़में रहते हैं, प्रत्युत 'मैं हूँ' इस मान्यतामें रहते हैं।

कम-दोषको दूर करनेके लिये—'हे नाथ! हे नाथ!!' पुकारो और जिनका काम नष्ट हो चुका है, ऐसे महात्माओंका संग करो। उनके संगसे बड़ा लाभ होता है। बार-बार विचार बदलनेवालेका काम नष्ट नहीं होता। एक विचार कर लो कि जिस दिन काम-वृत्ति आयेगी, उस दिन भूखा रहूँगा।

*** *** ***

जीवन्मुक्तिके बाद भी एक सूक्ष्म अहम् रहता है, पर इस बातका सबको पता नहीं है। यह सूक्ष्म अहम् बन्धनकारक तो नहीं होता, पर मतभेद करनेवाला होता है। परमप्रेमकी प्राप्ति होनेपर यह सूक्ष्म अहम् सर्वथा मिट जाता है। असली पूर्णता प्रेमकी प्राप्तिमें ही होती है।

सब ज्ञानी प्रेमी हों—यह नियम नहीं है, पर सब प्रेमी ज्ञानी होंगे—यह नियम है।

ज्ञान केवल जीवको ही होता है, ब्रह्मको नहीं, क्योंकि ब्रह्म तो ज्ञानस्वरूप ही है। परन्तु प्रेम भक्त तथा भगवान्—दोनोंमें होता है। प्रेम दोनों तरफसे होता है।

'माधुर्य' के अन्तर्गत सभी रस आ जाते हैं। दास्य, सख्य और वात्सल्य—तीनों रस 'माधुर्य' में रहते हैं। इसलिये 'माधुर्य' को रसराज कहते हैं।

प्रेम होता है—भगवान्‌को अपना मानकर याद करनेसे।

*** *** ***

भगवान् दर्शन देंगे—यह नि:सन्देह हो तो वे दर्शन दे देंगे, पर वे इतनी जल्दी कैसे आयेंगे—यह सन्देह होगा तो बाधा लग जायगी।

भगवान्‌को पाप नहीं अटका सकते। वे सर्वसमर्थ हैं। केवल विश्वासकी आवश्यकता है। विश्वाससे असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

*** *** ***

कोई कार्य करनेमें ही शरीरका उपयोग होता है। जब कोई कार्य नहीं करते, तब शरीर क्या काम आता है? भूख प्राणोंको लगती है। शरीरसे अलग होनेपर क्या भूख लगती है? देहाध्यास विवेकसे मिटता है। विवेकका नाम गुरु है, शरीरका नाम गुरु नहीं है।

भगवान् ही सृष्टिके उपादान एवं निमित्त-कारण हैं। वे ही सृष्टिरूपसे प्रकट हुए हैं। परन्तु **जबतक भोग तथा संग्रहकी इच्छा रहेगी, तबतक संसार जड़ ही दीखेगा, चिन्मय नहीं।**

*** *** ***

मैं भगवान्‌का हूँ—यह स्वयंमें होता है। साधन करनेका विचार भी स्वयंमें होता है। भक्ति आदिके संस्कार भी स्वयंमें रहते हैं। सुख-दु:खका भोक्ता भी स्वयं है। जैसे लड़ती फौज, पर जय-पराजय राजाकी होती है, ऐसे ही काम करता है अन्त:करण, पर परिणाममें सुख-दु:ख स्वयंको होता है।

जैसे विवाह होनेके बाद 'पति कैसा है'—यह प्रश्न करना व्यर्थ है, ऐसे ही 'ईश्वर कैसा है'—यह प्रश्न भी व्यर्थ है। यह प्रश्न उठाना ही नास्तिकता है। ईश्वर जैसा है, हमारा है। भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करना वास्तवमें उनका अपमान करना है। वे सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, बलवान्-निर्बल, सुन्दर-कुरूप, धनवान्-निर्धन आदि सब कुछ हैं। वे सबकी आखिरी हद हैं। साधकके लिये तो इतना ही मानना पर्याप्त है कि 'वे मेरे हैं'। भगवान्‌के वास्तविक रूपका वर्णन कोई कर सकता ही नहीं। संसारको जाना जाता है, पर परमात्माको माना जाता है। परमात्माको कोई जान सकता ही नहीं। माता-पिताको कोई भी नहीं जानता, उनको तो माना जाता है। **सगुण-निर्गुण आदिका भेद करनेवाला ईश्वरवादी नहीं है।** अग्नि साकार-निराकार दोनों होती है, फिर भगवान् क्या अग्निसे भी कमजोर हैं? आस्था, बोध, नास्तिकता स्वयंमें ही होती है, अन्त:करणमें नहीं।

*** *** ***

स्वयं ही दु:खी होता है और स्वयं ही दु:ख मिटानेकी चेष्टा करता है। आप पीड़ाके होने-न होनेकी अवस्थाको जानते हो, पीड़ाके आदि-अन्तको जानते हो, फिर पीड़ाको जाननेवाला कैसे पीड़ित होगा? पीड़ाके साथ मिलकर ही स्वयं पीड़ित होता है। दु:ख मेरा-पनसे होता है। जिस मकानको मेरा नहीं मानते, वह गिर भी जाय तो दु:ख नहीं होता। पर जिस मकानको मेरा मानते हैं, उसकी दीवारपर कोई कोयलेकी लकीर भी खींच दे तो दु:ख होता है। अत: दु:खसे बचना हो तो शरीरमें मेरा-पन छोड़ दो।

*** *** ***

सुखकी इच्छा ही दु:खका कारण है। न तो सन्तति-निरोध करनेसे आप सुखी हो जायँगे, न सन्तान होनेसे सुखी हो जायँगे। मनमें जबतक कोई भी चाहना रहेगी, तबतक सुख नहीं मिलेगा, शान्ति नहीं मिलेगी।

जो मिला है, उसमें सन्तोष नहीं होता तो क्या जो नया मिलेगा, उसमें सन्तोष हो जायगा?

जो मिला है, उसमें सन्तोष करो। यह सुखका मार्ग है। जो कुटुम्बी, स्त्री-पुत्र, भाई-बहन, माता-पिता आदि मिले हैं, वे भगवान्‌के दिये हुए हैं। अतः उनमें सन्तोष करो।

सुखदायी परिस्थिति अच्छी लगती है, पर उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। दुःखदायी परिस्थिति बुरी लगती है, पर उसका परिणाम अच्छा होता है।

*** *** ***

भगवान्‌की तरफ लग जाओ, भोगोंका उद्देश्य मत रखो तो आवश्यक भोग स्वतः प्राप्त होंगे। परन्तु भोगोंका उद्देश्य रखोगे तो महान् पतन होगा।

भगवान्‌के भजनमें लगनेवालेकी बुद्धि निर्मल हो जाती है, फिर वह पापोंमें नहीं लगता।

नाम पुकार है। पुकारमें विधि, समय नहीं होता। अतः नाम हर समय ले सकते हैं, मन्त्र नहीं।

'मैं भक्त हूँ'—यह भावशरीर है।

सांसारिक वस्तुओंसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। संसारसे विमुख होकर भगवान्‌में लग जाओ तो शान्ति-ही-शान्ति है, आनन्द-ही-आनन्द है।

*** *** ***

प्रेम हरदम रहता है, पर दर्शन हरदम नहीं रहते। दर्शनकी इच्छा दोषी नहीं है, पर तुलना करें तो दर्शनकी अपेक्षा प्रेम ऊँचा है। दर्शन होनेपर प्रेम हो जाय—यह नियम नहीं है।

हर समय, हरेक परिस्थितिमें भगवान्‌की कृपाकी ओर देखते रहो—**'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः'** (श्रीमद्भा० १०।१४।८)।

भक्त न भोग चाहता है, न मोक्ष चाहता है। वह तो केवल भगवान्‌की प्रसन्नता चाहता है। भक्त भगवान्‌को पुजवाते हैं और भगवान् भक्तोंको पुजवाते हैं, पर भीतरसे दोनों एक ही हैं।

*** *** ***

भगवान्‌की शीघ्र प्राप्ति अपनी उत्कट अभिलाषासे होती है, भजनसे नहीं। भगवान्‌के यहाँ बल, बुद्धि, योग्यता, वस्तु आदिकी कोई इज्जत नहीं है। वहाँ इज्जत है—अपनेपनकी और उत्कट अभिलाषाकी।

भगवान्‌के अंशको केवल भगवान्‌की ही आवश्यकता है। भगवत्प्राप्तिमें क्रिया मुख्य नहीं है, लगन मुख्य है। त्याग, तपस्या, भजन आदि बड़ी अच्छी चीजें हैं, पर भगवान्‌को खींचनेवाला आपका हृदय है, आपकी लगन है। अगर लगन न लगे तो लगनकी लगन लग जाय कि लगन कैसे लगे? क्या करूँ? कैसे करूँ? जैसे, भूख न लगनेपर भूखकी भूख लग जाती है और वैद्यसे पूछते हैं कि भूख कैसे लगे? क्या लूँ?

कोई भी इच्छा न करें, न संसारकी, न भगवान्‌की, तो भगवान् मिल जायँगे। इच्छा ही भगवान्‌से दूरी करती है।

*** *** ***

भगवान्‌ने सब जीवोंको अपनी शरणमें ले रखा है, अपना मान रखा है। इसलिये वे मात्र जीवोंका पालन करते हैं। जीव चाहे उनके अस्तित्वको ही न माने, पर वे तो पालन करते ही हैं। भगवान्‌की शरणागति तो अनादि है, सदासे है। उनके शरण होना मानो शरणागतिको सादि करना है। क्या कोई कह सकता है कि मैंने अपनी जानकारीमें अमुक घरमें जन्म लिया है, अमुकको माँ बनाया है, मैं अमुक समय बीमार होऊँगा, अमुक समय मरूँगा, आदि। ये सब आप अपनी जानकारीसे करते हैं

क्या? शरीर, प्राण, मन, इन्द्रियों आदिपर आपका वश चलता है क्या? इससे सिद्ध हुआ कि आप अधीन हैं, शरणागत हैं।

*** *** ***

गीता पढ़नेवालेका व्यवहार अच्छा होनेसे गीताका प्रचार होता है। सत्संग करनेवालेका व्यवहार अच्छा होनेसे सत्संगका प्रचार होता है। व्याख्यानके अपेक्षा आचरणका विशेष असर पड़ता है। रावणकी विद्या तो तेज थी, पर आचरण ठीक नहीं था।

उत्साही आदमीके लिये कठिन काम भी सुगम हो जाता है और हिम्मत हारनेसे सुगम काम भी कठिन हो जाता है।

हमारा संसारके साथ बहता हुआ सम्बन्ध है और भगवान्‌के साथ रहता हुआ सम्बन्ध है।

*** *** ***

स्त्री पतिव्रता होती है तो स्वयंसे होती है, करणसे नहीं। अन्त:करण शुद्ध होनेपर पतिव्रता नहीं होती। क्या अन्त:करण शुद्ध होनेपर विवाह होता है? यह तो स्वयंकी स्वीकृति है। स्वीकृतिका अन्त:करणकी शुद्धि-अशुद्धिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वीकृति स्वयंकी होती है, करणकी नहीं। स्वयं भगवान्‌को अपना स्वीकार कर ले तो अन्त:करण क्या करेगा? अन्त:करण शुद्ध होनेपर क्या भगवान्‌को स्वीकार कर लेंगे? जैन लोग क्या भगवान्‌को मानते हैं? 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह स्वयंसे होता है, और इसको माननेके लिये सबका अन्त:करण शुद्ध है। यह करणकी बात नहीं है, कर्ताकी बात है। आप 'परा प्रकृति' हैं, करण 'अपरा प्रकृति' है।

भजन करनेवाला कर्ता है, करण नहीं। भजन नाम प्रेमका है। परमात्मप्राप्ति, तत्त्वज्ञान कर्ताको होता है, करणको नहीं। जहाँ अज्ञान होता है, वहीं ज्ञान होता है। सदन कसाई, जगाई-मधाईका अन्त:करण क्या शुद्ध था? स्वीकार करनेमें सब स्वतन्त्र तथा समर्थ हैं, चाहे अन्त:करण शुद्ध हो या अशुद्ध? **मात्र मनुष्य भक्त बन सकते हैं, साधु बन सकते हैं।**

*** *** ***

अहम्‌को स्वीकार न करे तो पाप-पुण्य नहीं लगेंगे। हमारा स्वरूप अहम्‌को जाननेवाला है।

चोरी करनेसे रुपया तो स्थायी रहेगा नहीं, पर चोरपना स्थायी हो जायगा।

सबका त्याग करते-करते जो शेष रह जाता है, वह परमात्मा है। उसका त्याग नहीं हो सकता।

तत्त्वज्ञानमें स्वतन्त्रता है, पर दर्शन भगवान्‌की मरजीसे होते हैं। अत: दर्शनकी अपेक्षा तत्त्वज्ञान सुगम है।

किसीका हृदय कठोर हो तो वह प्रतिदिन छोटे-छोटे गरीब बच्चोंको मिठायी खिलाये और उन्हें खाता हुआ देखे। उसका हृदय इतना नरम हो जायगा कि एक दिन वह रो पड़ेगा। छोटे बच्चे जल्दी राजी हो जाते हैं, जिससे उनका आशीर्वाद मिलता है।

*** *** ***

न दूसरेमें दोष मानो, न अपनेमें। कुत्ता घरमें आ जाय तो क्या वह मालिक हो गया? ऐसे ही दोष आपमें आता है, है नहीं। वह तो आगन्तुक है। आपने दोषको अपनेमें मान लिया तो यह दोष दूर नहीं होगा, क्योंकि आपने दोषको स्थान दे दिया। अगर आपमें दोष होता तो हरदम रहता। दोषकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। **यदि आप दोषको अपनेमें स्वीकार न करें तो उसमें रहनेकी ताकत नहीं है।**

आपमें निर्दोषता स्वत:-स्वाभाविक है—***'चेतन अमल सहज सुख रासी'***। उस निर्दोषताको सुरक्षित रखना है, कहींसे लाना नहीं है। सुरक्षित रखनेका तात्पर्य है—अपनेमें कभी दोष न मानें। आपकी सम्मतिके बिना दोष आपमें रह सकता नहीं। आप स्वीकार करते हैं, तब दोष आता है।

अगर आप साथ दो तो अभी-अभी सब मुक्त हो सकते हैं!

अपनेसे सुखासक्ति दूर न हो अथवा कोई दोष आये तो 'हे नाथ! हे प्रभो!' ऐसे भगवान्‌को पुकारो। भगवान्‌के विषयमें प्रसिद्धि है—***'निरबल के बल राम'***। भगवान्‌का बल हमारे लिये ही तो है।

*** *** ***

जो सत्यभाषण करता है, उसका सम्बन्ध सत्यनारायणके साथ हो जाता है। 'मैं सत्य बोलूँगा'—यह करणसापेक्ष है। 'मैं असत्य नहीं बोलूँगा'—यह करणनिरपेक्ष है। करणसापेक्षकी अपेक्षा करणनिरपेक्ष श्रेष्ठ है।

*** *** ***

साधकोंकी अवस्था आज बहुत दयनीय हो रही है। न तो साधक स्वयं चेतते हैं, न कोई गुरु चेताते हैं। गुरुके नामपर, चेलेके नामपर क्या-क्या अनर्थ हो रहे हैं, भगवान् जानें। हमारे सामने कोई-कोई उदाहरण आ जाते हैं तो पता लगता है। गुरु बनना पेशा नहीं है, पर आज यह पेशा बन गया है। सिवाय ठगाईके कुछ नहीं।

भगवान् श्रीकृष्ण जगत्‌के गुरु हैं—**'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'**। आप जगत्‌से बाहर नहीं हैं। गीता उनका मन्त्र अथवा उपदेश है। आप चाहें तो गीता, रामायणको ही गुरु मान लो, गोस्वामी तुलसीदासजीको गुरु मान लो, प्राचीन सन्तोंको गुरु मान लो। बहुत लाभ होगा। सन्त चरणदासजीने शुकदेवजीको गुरु मान लिया।

यदि गुरुके दिये बिना मन्त्र सिद्ध नहीं होता तो बतायें, आपके जाननेमें कितने लोग सिद्ध हो गये? जिन्होंने गुरु-मन्त्र लिया है, उनमें क्या विलक्षणता आ गयी? उनका आचरण, व्यवहार, स्वभाव कितना सुधर गया? जिन्होंने गुरु-मन्त्र नहीं लिया, पर भजन-स्मरण करते हैं, वे क्या कमजोर हैं? सत्संगसे जो लाभ होता है, वह गुरु-मन्त्रसे नहीं होता—यह मेरा अनुभव है।

श्रोता—आपने गुरु बनाया है तो फिर हमें चेला क्यों नहीं बनाते?

स्वामीजी—सच्ची बात तो यह है कि मैं साधु हुआ ही नहीं; मैंने कभी गुरु बनाया ही नहीं। मैंने गुरुकी तरह मानकर कई सन्त-महात्माओंसे शिक्षा ली है, उनकी आज्ञा मानी है, पर उनको गुरु नहीं बनाया। मैं गुरु बनाऊँ और आपको मना करूँ तो दोष आता है न! मैं चार वर्षोंका था, मेरी माँने मुझे सन्तोंको भेंट कर दिया। चार वर्षोंका बालक क्या समझे कि साधु क्या होता है? गुरु क्या होता है? चेला क्या होता है? गुरुने ही मुझे चेला बना लिया तो मैं क्या करूँ?

*** *** ***

भगवान्‌की दी हुई विवेकशक्ति जिसमें ज्यादा प्रकट होती है, वह गुरु हो जाता है और जिसमें कम प्रकट होती है, वह शिष्य हो जाता है।

अपने स्वार्थके लिये जो कर्म किया जाय, वह पाप है और दूसरेके हितके लिये जो कर्म किया जाय, वह पुण्य है।

प्रतिकूल परिस्थिति कड़वी दवा है, जो पापोंका नाश करनेवाली है।

संसारके साथ सम्बन्ध रखते हुए आप अपना कल्याण नहीं कर सकते। संसारका सम्बन्ध छोड़ दो तो अभी मुक्ति है।

अपनी योग्यताके अनुसार किया गया साधन ही सफल होता है। यदि नींद आती हो तो चुप-साधन नहीं करना चाहिये। **वास्तवमें चुप-साधन होता है, किया नहीं जाता। जो किया जाता है, वह चुप-साधन नहीं होता।** जब क्रियाका वेग न रहे, देखने, सुनने, करने आदिकी रुचि न रहे, तब चुप-साधन होता है।

*** *** ***

कुछ भी काम करते हैं, तभी शरीरकी जरूरत होती है। कुछ भी न करें तो शरीरका क्या उपयोग? काम जो भी होता है, संसारका ही होता है।

तीनों योगोंमें यह बात है कि वस्तु अपनी नहीं है। किसी भी वस्तुको अपनी न मानो तो निहाल हो जाओगे। वस्तुको भगवान्‌की मानो तो एक नम्बर, संसारकी मानो तो दो नम्बर और प्रकृतिकी मानो तो तीन नम्बर। इसको अपनी सिद्ध करनेकी ताकत किसीमें नहीं है।

*** *** ***

सत्संग भाग्य नहीं बदलता, प्रत्युत भीतरका दुःख मिटाता है। धन मिलनेपर भी तृष्णा नहीं मिटती, पर सत्संगके द्वारा धन न मिलनेपर भी तृष्णा मिट जाती है। करोड़पति-अरबपतिको भी अभाव रहता है, पर सत्संगसे अभाव मिट जाता है।

समयपर आवश्यक वस्तु न मिले और मिलनेकी इच्छा बनी रहे—ये दो बातें धनी-से-धनीमें भी मिलेंगी और गरीबमें भी।

यदि दूसरे लोगोंकी तरह ही हम सुखी-दुःखी होते रहें तो सत्संगसे क्या लाभ हुआ?

*** *** ***

भलाई करनेकी अपेक्षा बुराई छोड़ना श्रेष्ठ है। बुराई छोड़नेसे भलाई स्वतः होती है और भलाईका अभिमान भी नहीं होता। **भलाईका मूल है—बुराईका त्याग।** भलाई करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना आवश्यक बुराईका त्याग करना है। बुराईके त्यागमें तीन बातें हैं—किसीको बुरा न समझें, किसीका बुरा न चाहें और किसीका बुरा न करें। कोई भी व्यक्ति सर्वथा बुरा नहीं हो सकता, सब समय बुरा नहीं हो सकता और सबके लिये बुरा नहीं हो सकता। बुराई आगन्तुक है।

सद्‌गुण-सदाचार सदा रहनेवाले हैं। दुर्गुण-दुराचार सदा रहनेवाले नहीं हैं, वे हमारे साथी नहीं हैं।

आप भले हो जाओगे तो आपको भी भले आदमी मिलेंगे, सन्त-महात्मा मिलेंगे, परमात्मा मिलेंगे। **'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'**। अगर आपको विशेष लाभ लेना हो तो बुराईका त्याग करो।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी वाणीपर आधारित

'गीता प्रकाशन' का शीघ्र कल्याणकारी साहित्य

१. **संजीवनी-सुधा**—'गीता साधक-संजीवनी' पर आधारित शोधपूर्ण पुस्तक।
२. **सीमाके भीतर असीम प्रकाश**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
३. **बिन्दुमें सिन्धु**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
४. **नये रास्ते, नयी दिशाएँ**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
५. **अनन्तकी ओर**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
६. **स्वातिकी बूँदें**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
७. **अनुभव-वाणी**—चुने हुए अनमोल वचन। अँग्रेजी-भाषान्तरसहित।
८. **सहज गीता** (अँग्रेजीमें भी)—नये पाठकोंके लिये 'साधक-संजीवनी' के अनुसार गीताका सरल हिन्दीमें भावार्थ।
९. **हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं** (गुजराती व अँग्रेजीमें भी)—इस प्रार्थनाके रहस्य तथा महत्त्वका अद्‌भुत वर्णन।
१०. **कृपामयी भगवद्‌गीता** (गुजरातीमें भी)—गीताकी महिमा और उसकी विलक्षणताका वर्णन।
११. **लक्ष्य अब दूर नहीं** (गुजरातीमें भी)—परमात्मप्राप्तिके विविध सुगम साधनोंका अनूठा संकलन।
१२. **सहज समाधि भली** (गुजरातीमें भी)—'चुप साधन' का विस्तृत विवेचन।
१३. **अपने प्रभुको पहचानें**—भगवान्‌के समग्ररूपका विस्तृत विवेचन।
१४. **एक सन्तकी अमूल्य शिक्षा** (क्या करें, क्या न करें)
१५. **विलक्षण सन्त, विलक्षण वाणी**—प० श्रीस्वामीजी महाराजकी वसीयत-सहित।
१६. **गोरक्षा—हमारा परम कर्तव्य**
१७. **क्या करें, क्या न करें ?**—आचार-व्यवहार संबंधी शास्त्र-वचनोंका अनूठा संग्रह।
१८. **भवन-भास्कर** (परिशिष्ट-सहित)—वास्तुशास्त्रकी महत्त्वपूर्ण बातें।
१९. **सुखपूर्वक जीनेकी कला**—सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर।
२०. **क्या आप ईश्वरको मानते हैं ?**—साधकोंके लिये चेतावनी।
२१. **बोलनेवाली श्रीमद्भगवद्गीता** (अर्थसहित)—इसे पढ़नेके साथ-साथ शुद्ध उच्चारणमें सुन भी सकते हैं।
२२. **ग्लोब गीता**—आकर्षक ग्लोबके आकारमें सम्पूर्ण गीता।

गीता प्रकाशन,
कार्यालय—माया बाजार, पश्चिमी फाटक,
गोरखपुर—273001 (उ०प्र०)
फोन—09389593845; 07668312429
e-mail: radhagovind10@gmail.com